विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ८ अगस्त २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

शास्त्रोपस्कृत-शब्द-सुन्दर-गिरः शिष्यप्रदेयागमा ।
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य सुधियस्त्वर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ।।१५।।

अन्वय – यस्य प्रभोः विषये निर्धनाः शास्त्र-उपस्कृत-शब्द-सुन्दर-गिरः शिष्य-प्रदेयागमाः विख्याताः कवयः निवसन्ति, तत् वसुधाधिपस्य जाड्यम्, कवयः तु अर्थं विना अपि ईश्वराः, कुपरीक्षकाः कुत्स्याः स्युः यैः मणयः अर्घतः पातिताः ।।

भावार्थ – शास्त्रों द्वारा परिमार्जित शब्दों से युक्त सुन्दर वाणी में शिष्यों को विद्यादान करनेवाले ख्यातिलब्ध विद्वान् यदि किसी के राज्य में निर्धनतापूर्वक रहते हैं, तो यह उस राजा की मूर्खता है, क्योंकि विद्वान् तो धन के विना भी सम्मानित होते हैं। मणि के मूल्य को कम करके आँकने से रत्नपारखी की ही निन्दा होती है ।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा-
ऽप्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम् ।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ।।१६।।

अन्वय – नृपाः! यत् हर्तुः गोचरं न याति, सर्वदा किमपि शं पुष्णाति अर्थिभ्यः अनिशम् प्रतिपद्यमानम् परां वृद्धि प्राप्नोति कल्पान्तेषु अपि निधनं न प्रयाति, तत् विद्याख्यं अन्तर्धनं येषां (अस्ति), तान् प्रति मानम् उज्झत, कः तैः सह स्पर्धते ।।

भावार्थ – जो चोरों के देखने में नहीं आता, सर्वदा कोई कल्याण करता रहता है, याचकों को निरन्तर देते रहने से भी अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और कल्प के अन्त तक नष्ट नहीं होता, वह विद्या नामक गुप्त धन जिनके पास है, हे राजाओ, उनके प्रति अभिमान को त्याग दो, उनके साथ भला कौन स्पर्धा कर सकता है!

– भर्तृहरि

सारदा-वन्दना

जितेन्द्र कुमार तिवारी

– १ –

भक्ति-पूरित आज मन है ।
सारदा माँ को नमन है ॥

दुर्गुणी हूँ, स्वयं को पहचानता हूँ,
और हूँ कमजोर, यह भी मानता हूँ ।
इस जगत् में एक ही आशा-किरण है,
माँ बहुत करुणामयी हैं, जानता हूँ ।
बस उन्हीं की स्नेहपूरित दृष्टि पाकर
विहँस उठता सर्वदा मन का चमन है ।
सारदा माँ को नमन है ॥१॥

काम का औ' क्रोध का मुझमें खजाना,
और मद-मात्सर्य का मैं हूँ निशाना ।
खा रहा है नित्य निज अभिमान मुझको,
किन्तु मुश्किल हो रहा है छोड़ पाना ।
माँ तुम्हारे, बिन सहारे, दुर्गुणों का,
हो नहीं सकता कभी मुझसे दमन है ।
सारदा माँ को नमन है ॥२॥

कर्म के वश चल रहा है विश्व सारा,
माँ, नहीं मैं कष्ट से घबरा रहा हूँ,
शक्ति मिलती है मुझे तेरी शरण में,
इसलिए तव कीर्तिध्वज फहरा रहा हूँ ।
माँ, तुम्हारे पदकमल की धूलि से ही
पूर्ण हो जाता हमारा चिर-स्वपन है ।
सारदा माँ को नमन है ॥३॥

– २ –

शान्ति-सुख मिलता मुझे है,
सारदा माँ की शरण में ।

जब कभी संसार में मन,
क्षत-विक्षत विभ्रान्त होता ।
स्वजन हैं, आँखें चुराते,
मन-पथिक थक श्रान्त होता ।
लक्ष्य-पथ मिलता मुझे है,
सारदा माँ की शरण में ॥१॥

जब अँधेरा जिन्दगी को,
है चतुर्दिक घेर लेता ।
सूझता कुछ भी नहीं है,
मोह मति को फेर देता ।
ज्योति-पथ मिलता मुझे है,
सारदा माँ की शरण में ॥२॥

जब कभी संचेतना का,
दिग्भ्रमित संचार होता ।
तुच्छता की ओर जाता,
मन बहुत लाचार होता ।
शक्ति-पथ मिलता मुझे है,
सारदा माँ की शरण में ॥३॥

शान्ति-सुख मिलता मुझे है,
सारदा माँ की शरण में ।

जाति-व्यवस्था पर विचार

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओ से सम्बन्धित विचारो का एक संकलन बनाया था । यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने में काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ । 'विवेक-ज्योति' के पाठको के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

जाति, धर्म में नहीं, समाज में है

यद्यपि हमारा जाति-भेद और अन्यान्य प्रथाएँ धर्म के साथ आपस में मिली हुई दिखती हैं, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नही है । ये प्रथाएँ राष्ट्र के रूप में हमारी रक्षा के लिए आवश्यक थीं । और जब आत्मरक्षा के लिए उनकी जरूरत न रह जायेगी, तब ये स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जायेंगी । ... धर्म मे जाति-भेद नहीं है । भारतवर्ष में ऊँची या नीची जाति के लोग संन्यासी हो सकते हैं और तब दोनों जातियाँ समान हो जाती है । जाति-भेद वेदान्त-धर्म का विरोधी है ।

जाति-भेद एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बड़े बड़े आचार्यों ने उसे तोड़ने के प्रयत्न किये हैं । बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायों ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढ़ता गया, जाति-भेद की शृंखला भी उतनी ही दृढ़ होती गयी । बुद्धदेव से लेकर राममोहन राय तक सबने जाति-भेद को धर्म का एक अंग माना और जाति-भेद के साथ ही धर्म पर भी पूरा आघात किया तथा असफल रहे ।

पुरोहितगण चाहे कुछ भी बकें, जाति-व्यवस्था केवल एक सामाजिक विधान ही है, जिसका काम हो चुका, अब तो यह भारतीय वायुमण्डल में दुर्गन्ध फैलाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करती । यह तभी हटेगी, जब लोगों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुन: प्राप्त हो जायेगा । ... जाति-भेद की उत्पत्ति भारत की राजनीतिक संस्थाओ से हुई है, वह तो वंश-परम्परागत व्यवसायो का समवाय (Trade Guild) मात्र है । किसी उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-भेद को अधिक मात्रा में तोड़ा है ।

जाति-प्रथा के पीछे अन्तर्निहित भाव

ज्यों ज्यो मेरी उम्र बढ़ती जाती है, ये पुरानी प्रथाएँ मुझे भली प्रतीत होती हैं । कभी मैं इनमें से अधिकांश को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझता था, परन्तु आयुवृद्धि के साथ उनम से किसी के विरुद्ध कुछ भी कहते संकोच होता है; क्योकि इनका आविष्कार शताब्दियों के अनुभव का फल है ।

कल का छोकरा, जिसकी कल ही मृत्यु भी हो सकती है, यदि मेरे पास आये तथा मेरे चिरकाल के संकल्पों को छोड़ देने को कहे और यदि मै उस लड़के के मतानुसार अपनी व्यवस्था को पलट दूँ, तो मैं ही मूर्ख बनूँगा, दूसरा कोई नहीं। भारतेतर भिन्न भिन्न देशों से, समाज-सुधार के विषय में यहाँ जितने भी उपदेश आते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे ही हैं । वहाँ के ज्ञानाभिमानियों से कहो, "तुम भी जब अपने समाज का स्थायी संगठन कर सकोगे, तब तुम्हारी बात मानेंगे । तुम किसी भाव को दो दिन के लिए भी धारण नहीं कर सकते । विवाद करके उसे छोड़ देते हो । तुम वसन्त ऋतु के कीड़ों की तरह जन्म लेते हो और उन्ही की तरह कुछ क्षणो में मर जाते हो । बुलबुले की भाँति तुम्हारी उत्पत्ति होती है और बुलबुले की तरह तुम्हारा नाश । पहले हमारे जैसा स्थायी समाज संगठित करो । पहले कुछ ऐसे समाजिक नियम तथा प्रथाएँ चलाओ, जिनकी शक्ति हजारों वर्ष अक्षुण्ण रहे; तब तुम्हारे साथ इस विषय पर वार्तालाप करने का समय आयेगा, किन्तु तब तक मेर मित्र, तुम एक चंचल बालक मात्र हो ।"

जाति-प्रथा एक बड़ी अच्छी व्यवस्था है । यह वह योजना है, जिसके अनुसार हम चलना चाहते हैं । जाति वास्तव में क्या है, यह लाखों में से कोई एक भी नही समझता । संसार में एक भी ऐसा देश नहीं, जहाँ जाति-भेद न हो । भारत में हम जाति के द्वारा ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ जाति नहीं रह जाती । जाति-प्रथा सदा इसी सिद्धान्त पर आधारित है । भारत में योजना यह है कि प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाय; ब्राह्मण मानवता का आदर्श है । यदि आप भारत का इतिहास पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि सर्वदा ही निम्न वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है । बहुत से वर्ग उठाये गये हैं तथा तब तक और भी अनेक उठाये जायेंगे, जब तक कि सब ब्राह्मण नहीं हो जाते । यही योजना है ।

आध्यात्मिक साधना-सम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं । इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या तात्पर्य है? मेरा मतलब उस आदर्श ब्राह्मणत्व से है, जिसमें सांसारिकता का नाम तक न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा में विद्यमान हो । हिन्दू जाति का यही आदर्श है । क्या तुमने नहीं सुना है, शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मण के लिए कोई कानून-कायदा नही है – वे राजा के शासनाधीन नही हैं और उनके लिए फॉसी की सजा नही हो सकती? यह बात बिल्कुल सच है ।

स्वार्थपर मूढ़ लोगों ने जिस तरह से इस तत्त्व की व्याख्या की है, उस भाव से इसे मत समझो; सच्चे वेदान्ती भाव से इस तत्त्व को समझने का प्रयास करो। यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे मनुष्य का बोध हो, जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है, जिसका जीवन ज्ञान और प्रेम की शक्ति को प्राप्त करने में तथा इनका विस्तार करने में ही बीतता है, जो देश ऐसे ही सच्चरित्र, नैष्ठिक तथा आध्यात्मिक ब्राह्मण नर-नारियों से परिपूर्ण है, वह देश यदि विधि-निषेध के परे हो, तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? ऐसे लोगों पर शासन करने के लिए सेना या पुलिस आदि की क्या आवश्यकता है? ऐसे आदमियों पर शासन करने की ही क्या जरूरत है? ये लोग साधु-स्वभाव महात्मा हैं – ईश्वर के अन्तरंग-स्वरूप हैं, ये ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं और हम शास्त्रों में देखते हैं – सत्ययुग में पृथ्वी पर केवल एक ही जाति थी और वह ब्राह्मण थी। महाभारत में हम देखते हैं, प्राचीन काल में सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणों का ही निवास था। क्रमश: ज्यों ज्यों उनकी अवनति होने लगी, वह जाति भिन्न भिन्न जातियों में विभक्त होती गयी। फिर, जब कल्प-चक्र घूमता घूमता सत्ययुग आ पहुँचेगा, तब फिर से सब ब्राह्मण ही हो जायेंगे।

ब्राह्मण का पुत्र सर्वदा ब्राह्मण ही नहीं होता, यद्यपि उसमें ब्राह्मण होने की सम्भावना अवश्य रहती है। जाति से ब्राह्मण होना और गुणों से ब्राह्मण होना – ये दो भिन्न बातें हैं।

जैसे हर व्यक्ति में सत्त्व, रज तथा तम – तीनों गुण न्यूनाधिक अंश में विद्यमान हैं, वैसे ही ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आदि के गुण भी सब मनुष्यों में जन्मजात ही न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। समय समय पर उनमें से एक-न-एक गुण अधिक प्रबल होकर, उनके कार्यकलापों में प्रकट होता रहता है। आप मनुष्य का दैनिक जीवनक्रम लें – जब वह धन कमाने हेतु किसी की सेवा करता है, तो वह शुद्र होता है; जब वह स्वयं अपने लाभ के लिए कोई क्रय-विक्रय करता है, तो उसकी वैश्य संज्ञा हो जाती है; जब वह अन्याय के विरुद्ध अस्त्र उठाता है, तो उसमें क्षात्रभाव सर्वोपरि होता है; और जब वह ईश्वर चिन्तन में लगता है, भगवान का कीर्तन करता है, तो ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य के लिए एक जाति से दूसरी जाति में चला जाना सम्भव है; यदि नहीं, तो विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे बन सके और परशुराम क्षत्रिय कैसे बन सके?

यूरोपीय सभ्यता का साधन – तलवार है, और आर्यों की सभ्यता का उपाय है – वर्ण-विभाग। यह शिक्षा और अधिकार के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी। यूरोप में बलवानों की जय तथा निर्बलों की मृत्यु होती है। भारत में हर सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा करने हेतु ही बना है।

हमारे जाति-भेद का लक्ष्य यही है कि धीरे धीरे सारी मानव जाति आध्यात्मिक मनुष्य के महान् आदर्श को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो, जो धृति, जाति, क्षमा, शौच, शान्ति, उपासना और ध्यान का अभ्यासी है। इस आदर्श में ईश्वर की स्थिति स्वीकृत है।

हमारा विश्वास है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था भगवान द्वारा मनुष्य को दी गई सर्वोत्कृष्ट व्यवस्थाओं में से एक है। हमारा यह भी विश्वास है कि यद्यपि अनिवार्य त्रुटियों ने, विदेशी बाधाओं तथा उपद्रवों ने और सर्वाधिक रूप में, जो ब्राह्मण के उपाधि के योग्य भी नहीं हैं, ऐसे ब्राह्मणों के अतिशय अज्ञान तथा मिथ्याभिमान ने अनेक प्रकार से इस परम गौरवमयी भारतीय व्यवस्था को समुचित रूप से सफल होने में बाधा पहुँचायी है और इसे कुण्ठित कर दिया है, फिर भी इस व्यवस्था ने भारत का अद्भुत कल्याण किया है और निश्चय ही भारतीय मानव-समाज को अपने लक्ष्य तक पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय इसी व्यवस्था के भाग्य में है।

जाति-व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिये; उसे केवल समय समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की जरूरत है। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। जाति-प्रथा को मिटाने की बात करना कोरी निर्बुद्धिता है।

विशेषाधिकार ने इस व्यवस्था को विकृत कर दिया है

विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है, पर जातिगत विशेषाधिकारों को छोड़ना होगा। जाति-विभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ, तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन कर सकते हो, तो मैं पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ, पर इस कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूतों की मरम्मत कर सकते हो? मैं क्या देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्यविभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ, तुम वेदपाठ में निपुण हो। यह कोई कारण नहीं कि तुम इस विशेषता के लिए मेरे सिर पर सवार हो जाओ। ऐसा नहीं हो सकता कि तुम यदि हत्या भी करो, तो तुम्हारी प्रशंसा हो और मुझे एक फल चुराने पर ही फाँसी पर लटकना पड़े। इसे समाप्त करना ही होगा।

जाति-विभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग अलग वर्गों में विभक्त होंगे, यह अनिवार्य है। तुम जहाँ भी जाओ, जाति-विभाग से छुटकारा न मिलेगा; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस प्रकार का विशेषाधिकार भी रहेगा। इनकी जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। यदि मछुए को तुम वेदान्त सिखलाओगे, तो वह कहेगा, हम और तुम दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक

हो, मैं मछुआ; पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुभीते हों। सब लोगों को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करे। ... एकाधिकार तथा उसके दावे के दिन लद गये, भारतभूमि से वे चिरकाल के लिए अन्तर्हित हो गये।

अस्पृश्यता – अन्धविश्वास की देन

पहले महत् का लक्षण था – **त्रिभुवनम् उपकार-श्रेणिभिः प्रीयमाणः** – सेवा के अनेक कामों से तीनों लोकों को प्रसन्न रखना, परन्तु अब है – मैं पवित्र हूँ और बाकी सारा संसार अपवित्र है। 'मुझे मत छूओ', 'मुझे मत छूओ'। सारा संसार अपवित्र है, केवल मैं ही शुद्ध हूँ! सहज ब्रह्मज्ञान! वाह! हे भगवान! आजकल ब्रह्म न तो हृदय-कन्दर में है, न गोलोक में और न सब जीवों में – अब वह भात की हाँड़ी में है।

हम सनातनी हिन्दू हैं, पर हम अपने आपको 'मत छूओ-वाद' में बिल्कुल सम्मिलित करना नहीं चाहते। वह हिन्दू धर्म नहीं है – वह हमारे किसी ग्रन्थ में नहीं है; यह एक सनातनी अन्धविश्वास है, जिसने हमारी राष्ट्रीय कुशलता को सदा हानि पहुँचायी है। ... धर्म तो भात की हाँड़ी में समा चुका है। वर्तमान हिन्दू धर्म न तो विचार-प्रधान है और न ही ज्ञान-प्रधान, 'मुझे न छूओ, मुझे न छूओ' – इस प्रकार की अस्पृश्यता ही उसका एकमात्र अवलम्ब है, बस इतना ही।

अस्पृश्यता एक तरह की मानसिक बीमारी है; उससे सावधान रहना। सब प्रकार का विस्तार ही जीवन है और सब प्रकार की संकीर्णता मृत्यु है। जहाँ प्रेम है, वहीं विस्तार है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं संकीर्णता। अत: प्रेम ही जीवन का एकमात्र विधान है। ... इस घोर वामाचार-रूप अस्पृश्यता में फँसकर तुम अपने जीवन से हाथ न धो बैठना।

आत्मवत् सर्वभूतेषु – क्या यह वाक्य मात्र पोथी में निबद्ध रखने के लिए है? जो लोग गरीबों को रोटी का एक टुकड़ा नही दे सकते, वे फिर मुक्ति क्या दे सकते हैं? दूसरों के श्वास-प्रश्वासों से जो अपवित्र बन जाते हैं, वे भला दूसरों को क्या पवित्र बना सकते हैं?

हमे अत्याचार करना एकदम बन्द कर देना चाहिए। किस हास्यास्पद दशा को हम पहुँच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप मे आता है, तो छुतही बीमारी की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी डालकर कोई पादरी प्रार्थना के रूप में कुछ बुदबुदा देता है और उसे पहनने को एक फटा-पुराना कोट मिल जाता है, तब वह चाहे तो किसी कट्टर-से-कट्टर हिन्दू के कमरे में जा सकता है, उसके लिए कोई रोक-टोक नहीं; ऐसा कोई नहीं, जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए कुर्सी न दे! इससे बढ़कर विडम्बना की बात क्या हो सकती है?

यह देखो न – हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर दक्षिण में हजारों पैरिया ईसाई बनते जा रहे हैं, पर ऐसा न समझना कि वे केवल पेट के लिए ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण ही वे ईसाई बनते हैं। हम दिन-रात उनसे केवल यही कहते रहे हैं, 'मत छूओ, मत छूओ।' देश में क्या अब दया-धर्म भी है? केवल छूआछूत-पन्थियों का दल रह गया है! ऐसे आचार के मुख पर मार झाड़ू! मार लात! इच्छा होती है कि इस छूआछूत-पन्थ की सीमा को तोड़कर अभी चला जाऊँ – 'जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, दीन-दुखी हो, आ जाओ' – कहकर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ। इनके बिना उठे माँ नहीं जागेगी।

सभी हिन्दू एक दूसरे के भाई हैं। 'इसे नहीं छूते, उसे नहीं छूते' – कहकर ही तो हमने इनको ऐसा बना दिया है। इसी कारण तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है। इन्हें उठाना होगा, इन्हें अभय-वाणी सुनानी होगी, बताना होगा कि तुम भी हमारे जैसे मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे ही समान सब अधिकार है।

जाति-समस्या का समाधान

ऊँची जातियों को नीचा करने, यथेच्छा आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से यह जातिभेद की समस्या हल नहीं होगी। इसकी मीमांसा तभी होगी, जब हममें से प्रत्येक मनुष्य वेदान्ती धर्म का पालन करने लगेगा, जब हर कोई सच्चा धार्मिक होने की चेष्टा करेगा और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श बन जायगा। तुम आर्य हो या अनार्य, ऋषि सन्तान हो, ब्राह्मण हो या अत्यन्त नीच अंत्यज जाति के ही क्यों न हो, भारतभूमि के प्रत्येक निवासी के प्रति तुम्हारे पूर्वजों का दिया हुआ एक महान् आदेश है। तुम सबके प्रति बस एक ही आदेश है कि चुपचाप बैठे रहने से काम न होगा। निरन्तर उन्नति के लिए चेष्टा करते रहना होगा। ऊँची-से-ऊँची जाति से लेकर नीची-से-नीची (पैरिया) जाति के लोगों को भी ब्राह्मण होने की चेष्टा करनी होगी। वेदान्त का यह आदर्श केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं, वरन् सारे संसार के लिए उपयुक्त है।

भारत में ब्राह्मणत्व ही मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। इसे शंकराचार्य ने गीता के भाष्यारम्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से पेश किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए प्रचारक के रूप में कृष्ण के आने का कारण बतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए। और इस समय इस

जाति-भेद की प्रथा मे जितने दोष हैं, उनके बावजूद हम जानते है कि हमे ब्राह्मणो को यह श्रेय देने से लिए तैयार रहना होगा, यह उनका प्राप्य है । हमें बहुत स्पष्टवादी होकर साहस के साथ उनके दोषो की आलोचना करनी चाहिए, पर साथ ही उनका प्राप्य श्रेय भी उन्हे देना चाहिए ।

जातियो का आपस मे झगड़ना बेकार है । इससे क्या लाभ होगा? इससे हम और भी बंट जायेंगे, और भी कमजोर हो जायेंगे, और भी गिर जायेंगे । उच्च वर्णो को नीचे उतारकर यह समस्या हल नही होगी, बल्कि नीची जातियों को ऊँची जातिया के बराबर उठाना होगा । और यद्यपि तुम कुछ ऐसे लोगा को, जिनमें अपने शास्त्रो का ज्ञान तथा अपने पूर्वजा के महान् उद्देश्या को समझने की शक्ति शून्य से अधिक नही है, कुछ-का-कुछ कहत हुए सुनते हो, फिर भी मैंने जो कुछ कहा है, वही हमारे शास्त्रो मे वर्णित कार्य-प्रणाली है । ये लोग नही समझते, समझते वे है जिनके मस्तिष्क है तथा पूर्वजो के कार्यों का समस्त प्रयोजन समझ लेने की क्षमता रखते है । वे तटस्थ होकर युग-युगान्तरो से गुजरते हुए जातीय जीवन की विचित्र गति को लक्ष्य करते है । वे नये और पुराने सभी शास्त्रो मे क्रमश: इसकी परम्परा देख पाते है । अच्छा, तो वह योजना – वह प्रणाली क्या है? उस आदर्श का एक छोर ब्राह्मण है और दूसरा छोर चाण्डाल । और सम्पूर्ण कार्य चाण्डाल को उठाकर ब्राह्मण बनाना है । शास्त्रो मे तुम देख पाते हो कि धीरे धीरे नीची जातियो को अधिकाधिक अधिकार दिये जाते हैं ।

मुझे विशेष दु:ख इस बात का है कि अब भी जातियों के बीच इतना मतभेद चलता रहता है । इसका अन्त हो जाना चाहिए । यह दोनो ही पक्षो के लिए व्यर्थ है, खासकर ब्राह्मणो के लिए, क्योकि इस तरह के एकाधिकार और विशेष दावो के दिन लद चुके । हर एक अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि वह अपने कुलीन तन्त्र की कब्र स्वयं ही खोदे और जितना शीघ्र इसे कर सके, उतना ही अच्छा है । जितनी ही वह देर करेगा, उतनी ही वह सड़ेगी और उसकी मृत्यु भी उतनी ही भयंकर होगी । अत: ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है कि वह भारत की अन्य सब जातियो के उद्धार की चेष्टा करे । यदि और जब तक वह ऐसा करती है, तभी वह ब्राह्मण है ।

जो अपने को ब्राह्मण कहलाने का दावा करता है, उसे अपना दावा प्रथमत: ब्राह्मण की आध्यात्मिकता को प्रकट करके और दूसरे अन्य लोगो को अपने स्तर तक उठा करके सिद्ध करना चाहिए । ... हम ब्राह्मणों से प्रार्थना करते है कि वे भारत के आदर्श को – मूर्तिमान पवित्रता जैसे पवित्र और स्वयं भगवान सरीखे मंगलमय ब्राह्मणों से निर्मित संसार के आदर्श को – भुला न दें । महाभारत का कहना है कि (सृष्टि के) आदि में ऐसा ही था और अन्त मे भी ऐसा ही होगा ।

ऐसा लगता है कि आज के ब्राह्मणों में से अधिकांश केवल अपने जन्म या वंश के मिथ्याभिमान में फूले घूमते है; और कोई भी देशी या विदेशी छद्माचारी, जो उनके इस मिथ्या अभिमान तथा जन्मजात आलस्य को भरपूर मिथ्या-प्रशस्ति से बढ़ावा देता है, वही उन्हें सर्वाधिक तुष्टि देता प्रतीत होता है ।

ब्राह्मणो, सावधान!! यह मृत्यु का लक्षण है । उठो, और अपना पौरुष प्रकट करो; अपने आसपास के अब्राह्मणों को ऊपर उठाकर अपना ब्राह्मणत्व दीप्त करो – प्रभुभाव से नही, अन्धविश्वासो और पूर्व-पश्चिम की नीम-हकीमी के सहारे पनपनेवाले विकृत घातक अहंभाव से नही, बल्कि सेवक-भाव के साथ ।

ब्राह्मणो से मेरा यह निवेदन है कि वे जो कुछ जानते है, उसकी शिक्षा देकर और सदियो से उन्हाने जिस ज्ञान एवं संस्कृति का संचय किया है, उसका प्रचार करके वे भारतीय जनता को उन्नत करने के लिए भरसक प्रयत्न करें । यथार्थ ब्राह्मणत्व क्या है? इसका स्मरण करना भारतीय ब्राह्मणों का स्पष्ट कर्तव्य है । मनु कहते है, "ब्राह्मणो को जो इतना सम्मान और विशेष अधिकार दिये जाते है, इसका कारण यह है कि उनके पास धर्म का भण्डार है ।"[१] उन्हे वह भण्डार खोलकर उसके रत्न संसार मे बाँट देने चाहिए ।

यह सच है कि ब्राह्मणो ने ही पहले भारत की सब जातिया मे धर्म का प्रचार किया, और उन्होंने ही सबसे पहले, उस समय जबकि दूसरी जातियो म त्याग के भाव का उन्मेष ही नही हुआ था, जीवन के सर्वोच्च सत्य के लिए सब कुछ छोड़ा । यह ब्राह्मणो का दोष नही कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्य जातियो से आगे बढ़े । दूसरी जातियों ने भी ब्राह्मणा की तरह समझने और करने की चेष्टा क्यो नही की? क्यो उन्होंने सुस्त बैठे रहकर ब्राह्मणो को बाजी मार लेने दिया?

परन्तु दूसरो की अपेक्षा अधिक अग्रसर होना तथा सुविधाएँ प्राप्त करना एक बात है और दुरुपयोग के लिए उन्हें बनाये रखना दूसरी बात । शक्ति जब कभी बुरे उद्देश्य के हेतु लगायी जाती है तो वह आसुरी हो जाती है; उसका उपयोग सदुद्देश्य के लिए ही होना चाहिए । अत: युगो की यह संचित शिक्षा तथा संस्कार, ब्राह्मण जिनके संरक्षक होते आये है, इन्हे अब आम-जनता को देना पड़ेगा और चूँकि उन्होंने आम-जनता को वह सम्पत्ति नही दी, इसीलिए मुसलमानों का आक्रमण सम्भव हो सका था । हम जो हजारो वर्षो तक भारत पर धावा बोलने-वाले जिस किसी के पैरो तले कुचले जाते रहे, इसका कारण यही है कि ब्राह्मणों ने शुरू से ही साधारण जनता के लिए वह खजाना खोल नही दिया । हम इसीलिए अवनत हो गये और

१. ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वर: सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये ।। (मनुस्मृति १/९९)

(शेष पृष्ठ ३६९ पर)

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अठहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता मे 'कथामृत' पर बँगला मे जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों में प्रकाशित हुए है । इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हे धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं । अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे अध्यापक हैं । – सं.)

काली पूजा की रात ठाकुर का भावावेश

काली-पूजा की रात का समय है । श्रीरामकृष्ण अपने युवा भक्तों से घिरे हुए बैठे हैं । उनका इन भक्तों के साथ बड़ा स्नेह था । इन भक्तों के साथ वे हास-परिहास भी करते हैं और फिर ध्यान धारणा तथा साधना के मार्ग में उनमें से कौन कितना अग्रसर हो रहा है, किसे कौन-सी बाधा है आदि बातों की ओर भी तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे । उन लोगों की छोटी-मोटी जागतिक जरूरतो की ओर भी उनकी सतर्क दृष्टि थी । यहाँ भी उनका यही वैशिष्ट्य दिखाई दे रहा है । रात अँधेरी है, अत: वे पूछ रहे है कि लालटेन की जरूरत होगी या नहीं । किसी को सर्दी हुई है, तो कहते हैं, "सिर पर कपड़ा लपेट लेना ।"

मन्दिर में माँ की पूजा का आयोजन हो रहा है । ठाकुर भावविभोर होकर एक के बाद एक भजन गा रहे हैं । स्वयं ही कहते हैं, "ये सब मदोन्मत्त के भाव के भजन हैं ।" ये भजन पुराने श्यामा-संगीत हैं, परन्तु गहन भावों का उद्दीपन करनेवाले हैं । जिन्होने जिस भाव से जगदम्बा का अनुभव किया है, उसी का वर्णन इन भजनों में व्यक्त हुआ है ।

इसके बाद मास्टर महाशय ने माँ की पूजा का वर्णन किया है । एक ओर पूजा चल रही है और दूसरी तरफ ठाकुर भजन गाते गाते मतवाले हो रहे हैं – धर्म की मानो घनीभूत अवस्था दिखाई दे रही है । भक्तगण भी स्वभाविक रूप से उसी भाव में डूबे हुए हैं । ठाकुर की उपस्थिति में परिवेश को ऐसा भाव-भक्ति से परिपूर्ण कर दिया है कि साधारण व्यक्तियों के ऊपर भी उसका विशेष प्रभाव हो रहा है । मास्टर महाशय बड़ी बारीकी से देखते और उसका ठीक ठीक वर्णन भी करते हैं । उनका यह वर्णन ध्यान की चीज है; उन्होंने जैसा मार्गदर्शन किया है, उसी भाव से चिन्तन करना चाहिए ।

अमावस्या की महानिशा है, अन्तर्मुख ठाकुर की भावद्योतक बाते, उनके भजन, नृत्य आदि के सजीव वर्णन से वहाँ का सारा परिवेश साधक के मन में स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है।

मास्टर महाशय के लिखने की पद्धति ही ऐसी है । वे स्वयं ध्यान करके प्रत्येक छोटी-मोटी घटना का दृश्य मन में लाते और उसका सजीव वर्णन करते हुए उसे लिपिबद्ध कर डालते थे । सम्भवत: उन्होंने सोचा था कि ये सब भक्तों के ध्यान में सहायक होंगे । इसी को स्मरण-मनन कहते हैं ।

अवतार का प्रभाव दूर-प्रसारी होता है

आज हम लोग कभी कभी सोचते हैं कि वे दिन कितने अद्‌भुत थे, जब भक्तों को अनायास ही भगवान के सान्निध्य का सौभाग्य मिला था । लम्बी प्रतीक्षा के बाद अवतार का आगमन होता है और परम सौभाग्य होने पर उनका सान्निध्य मिलता है । परन्तु क्या उस युग में सभी लोग उनसे प्रभावित हुए थे? मास्टर महाशय के वर्णन से ऐसा कोई आभास नहीं मिलता । देखने में आता है कि कुछ मुट्ठी भर लोग ही उनके सान्निध्य का आस्वादन कर सके और आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता भी पा सके थे । हम लोग सोचते हैं – अहा, यदि हम भी उस समय भी रहते! परन्तु रहने से ही क्या हम उनके प्रति आकृष्ट हो जाते? ऐसा भी हो सकता है कि हम लोगों में से कोई कोई जन्मा था, परन्तु इससे क्या हमारा कल्याण हुआ?

अत: पश्चात्ताप करने की कोई बात नहीं । अवतारी पुरुषों के स्थूल देह का त्याग हो जाने के बाद धीरे धीरे उनका भाव प्रसारित होता है । श्रीरामकृष्ण जो भावराशि छोड़ गये हों, वह क्रमश: फैलता जा रहा है । हमारी यदि इच्छा हो, तो हम भी उस भाव-मन्दाकिनी में अवगाहन करके पवित्र हो सकते हैं । मौका निकल गया – इसके स्थान पर हमें यह सोचना होगा कि हम वर्तमान अवसर का सदुपयोग कर पा रहे हैं या नहीं । इस समय यदि नहीं कर पा रहे हैं, तो शायद तब भी नहीं कर पाते । अत: सोचने की बात यह है कि किस प्रकार हम उस महान भावराशि को अपनाकर अपना जीवन धन्य कर सकें ।

(उन्यासीवाँ प्रवचन)

भाव, भक्ति और प्रेम

यहाँ बड़ाबाजार के एक मारवाड़ी भक्त के घर पर उत्सव के उपलक्ष्य में श्रीरामकृष्ण के शुभागमन का वर्णन किया गया है । भक्त श्रीरामकृष्ण की चरणसेवा कर रहे हैं । अवतार के विषय में बातचीत हो रही थी । ठाकुर ने कहा, "अवतार भक्तों के लिए हैं, ज्ञानियों के लिए नहीं ।" भक्त अवतार मानते हैं । उनका विचार है कि भगवान जगत् में धर्मभाव को उद्दीपित करने के लिए देहधारण करते हैं । मारवाड़ी भक्तों में से एक पण्डित कह रहे हैं, "परन्तु ज्ञानी कामनाशून्य होते हैं ।" उनका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को अवतार से भी कोई कामना नही रहती । ठाकुर हँसकर कहते हैं, "परन्तु मेरी सब कामनाएँ

नहीं मिटी, भक्ति की कामना बनी हुई है ।'' ठाकुर ने बारम्बार कहा है कि वैसे तो सभी कामनाएँ ही दूषित प्रतीत होती हैं, परन्तु भक्ति की कामना कामनाओं में नहीं आती ।

इसके बाद पण्डित जी के साथ वार्तालाप करते हुए ठाकुर ने अनेक प्रश्न किये – भाव तथा प्रेम किसे कहते हैं? पण्डित जी ने प्रेम की जो व्याख्या की, लगता है वह ठाकुर को पसन्द नहीं आयी, इसीलिए वे कहते हैं, ''प्रेम यह है – ईश्वर पर ऐसा प्यार होगा कि संसार के अस्तित्व का होश तो रह ही नही जाएगा, साथ ही अपनी देह भी जो इतनी प्यारी वस्तु है, भूल जायेगी । प्रेम चैतन्यदेव को हुआ था ।''

ठाकुर चुन-चुनकर प्रश्न कर रहे हैं और पण्डित जी उत्तर दे रहे हैं । लगता है ठाकुर ऐसे ही उत्तर चाहते थे । यहाँ उनका उद्देश्य यह है कि उपस्थित भक्तगण, जो सर्वदा ठाकुर के पास नहीं जाते, उन लोगों के मन में इन सब विषयों की स्पष्ट धारणा हो जाय । यहाँ जो बात ध्यान देने की है कि श्रोताओं में से अधिकांश हिन्दी-भाषी हैं और ठाकुर भी हिन्दी में ही बातें कर रहे हैं । साधु लोग पुरी जाने के मार्ग में कामारपुकुर की धर्मशाला में ठहरते थे । बचपन में ठाकुर सर्वदा उनके पास जाया करते थे; लगता है उनकी बातचीत सुनकर ठाकुर ने भी थोड़ा-बहुत हिन्दी सीख ली थी ।

इसके बाद गृहस्वामी कह रहे हैं, ''महाराज, उपाय क्या है?'' ठाकुर बोले, ''उनका नाम-गुण-कीर्तन और साधुसंग । उनसे व्याकुल होकर प्रार्थना करना ।'' सभी लोगों के लिए ठाकुर द्वारा बताये गये इन समस्त उपायों का अनुसरण करना सम्भव है । गृहस्वामी कहते हैं, ''ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि संसार से मन हटता जाय ।'' ठाकुर हँसकर बोले, ''कितना है? आठ आने!'' यहाँ स्मरण रखना होगा कि बातें मारवाड़ी लोगों के साथ हो रही हैं । वे लोग हिसाबी हुआ करते हैं, इसीलिए ठाकुर भी उन्हीं की भाषा का उपयोग कर रहे हैं । ठाकुर भक्त से कहते हैं, ''कुछ साधना की आवश्यकता होती है । मिट्टी के नीचे घड़े में धन रखा है । काफी परिश्रम करके मिट्टी खोदते खोदते जब घड़े में कुदाल लगकर ठनकार होती है, तब आनन्द भी खुब मिलता है ।''

अवतार – योगमाया से समावृत

वार्तालाप के दौरान गृहस्वामी कहते हैं, ''अब अवतार भी नहीं हैं ।'' ठाकुर हँसकर बोले, ''तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि अवतार नहीं हैं?'' उनका तात्पर्य यह है कि अवतार हैं या नहीं – उसकी कौन परख करेगा? ''अवतारी पुरुष को सब लोग नहीं पहचान पाते । नारद जब श्री रामचन्द्र जी के दर्शन करने के लिए गये, तब राम ने खड़े होकर साष्टांग प्रणाम किया और कहा, 'हम लोग संसारी जीव हैं, आप जैसे साधुओं के आये बिना हम लोग कैसे पवित्र होंगे'?'' जैसे हम साधारण लोग कहा करते हैं कि हम संसारी जीव हैं, वैसे ही राम भी कह रहे हैं । भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं कि साधु लोग जब रास्ते से होकर चले जाते हैं, तो मैं उनके पीछे पीछे चलता हूँ, ताकि उनके चरणों की धूल लगकर मेरा शरीर पवित्र हो सके ।

इसके बाद ठाकुर कहते हैं कि ऋषियों में से अनेक यह नहीं जान सके थे कि राम ही साक्षात् परम ब्रह्म हैं । इस पर गृहस्वामी कहते हैं, ''आप भी वही राम हैं ।'' ठाकुर बोले, ''राम! राम! ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए । मैं तुम लोगों का दास हूँ । वही राम ये सब मनुष्य और जीव-जन्तु हुए हैं ।'' उनका तात्पर्य यह है कि राम ही जीव, जगत् तथा चौबीसों तत्त्व हुए हैं । गृहस्वामी कहते हैं, ''हम यह क्या जानें?'' ठाकुर बोले, ''तुम जानो या न जानो, तुम राम हो ।'' यह बड़ी उपयोगी बात है । हम जानें या न जानें, जो वास्तविकता है, वह रहेगी ही – हम उन्हीं ईश्वर की सत्ता से सत्तावान हैं ।

आगे अवतार-तत्त्व पर काफी चर्चा हुई है, परन्तु यहाँ वे संक्षेप में कुछ बातें कहते हैं, ''अवतारी पुरुष को सब लोग पहचान नहीं पाते हैं ।'' शास्त्र मे भी अनेक स्थानों पर अनेकों बार यह बात कही गयी है । गीता में भी श्रीकृष्ण कहते हैं –

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रिम् ।
परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। ९/११

अवतार माया के द्वारा स्वयं को ऐसा छिपा कर रखते हैं कि उस आवरण को भेदकर उन्हें पहचान पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है । केवल दो-चार लोग ही उन्हें पहचान सकते हैं, बाकी लोग उन्हें साधारण मनुष्य ही समझकर अवज्ञा करते हैं । यह अवज्ञा वे लोग किसी विशेष कारण से नहीं करते, बल्कि वे लोग उन्हें समझ नहीं पाते । वे भी रोग, शोक, जरा, मृत्यु आदि के अधीन रहते हैं, कभी वे भ्रम-प्रमाद से ग्रस्त रह कर साधारण मनुष्य के समान ही व्यवहार करते हैं; ऐसा नहीं है कि वे सर्वदा तत्त्वज्ञान के आधार पर व्यवहार करते हैं । भागवत में लिखा है कि ब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्ण के बछड़े को छिपा दिये जाने पर वे भी अन्य ग्वाल-बालों की भाँति चिन्तित हो गये थे कि बछड़े आखिर गये कहाँ! यहाँ पर वे अपनी दिव्य-दृष्टि से नहीं, बल्कि साधारण मनुष्यों की तरह मायाच्छन्न दृष्टि से देख रहे हैं । श्रीरामचन्द्र भी इसी प्रकार मायाच्छन्न होकर सीता जी के खो जाने पर रोने लगे । भगवान की दृष्टि भी हमारे समान ही मायाच्छन्न होती है, भेद केवल इतना ही है कि वे स्वयं ही अपने को माया के आवरण में ढक लेते हैं । इसी कारण उन्हें पहचानना और जानना असम्भव है ।

तो फिर वे आते ही क्यों हैं? – दो कारणों से । प्रथम, उनके भीतर पूर्ण भगवत्ता होने के कारण लोग उन्हें न पहचान कर भी उनके द्वारा प्रभावित होते हैं । दूसरी बात यह है कि

अवतार के माध्यम से संसार में श्रेष्ठ आदर्श की स्थापना होती है । गीता (३/२१) में वे कहते हैं – श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं, सामान्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

श्रीरामचन्द्र को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा गया है । वे श्रेष्ठ व्यक्ति हैं; अपने आचरण के द्वारा वे मानवीय व्यवहार की जो मर्यादा या आदर्श स्थापित कर गये हैं, उस पर विचार करके साधारण लोग अपना कर्तव्य निर्धारित कर सकते हैं ।

केवल आदर्श जीवन या उपदेश के द्वारा ही नहीं, अवतार के सान्निध्य से जगत् में धर्म का एक प्रबल ज्वार उठता है वैसे ही जैसे कि पूर्णिमा की रात में समुद्र में उत्ताल तरंगें उठने लगती है । संसार में अपने आप ही एक परिवर्तन होने लगता है और वह मनुष्यों के अनजाने ही होता है । यह प्रभाव उनके देहत्याग के साथ ही लुप्त नहीं हो जाता, बाद में भी रहकर और भी विस्तार को प्राप्त होता है ।

एक एक अवतार का अर्थ है एक एक स्थायी साँचा – जिस आदर्श में मनुष्य स्वयं को गढ़ सकता है । अलग अलग युगों की आवश्यकता के अनुसार अलग अलग साँचे बनते हैं । प्रत्येक युग के आदर्श के सबके समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ही अवतारों का आगमन होता है ।

श्रीरामकृष्ण कौन-सा आदर्श स्थापित कर गये हैं – उसके उत्तर में उनके अन्तरंग पार्षदगण कहते हैं – मनुष्य के धर्म-जीवन में जिन आदर्शों की आवश्यकता पड़ती है, वे उन सभी के प्रतिष्ठाता हैं, इसीलिए उन्हें 'सर्व-धर्म-स्वरूपिणे' कहा गया है । उनमें सभी आदर्शों की पराकाष्ठा एक ही स्थान पर मिल जाती है । ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा योग – सभी पथों का एकत्र समावेश आध्यात्मिक जगत् के इतिहास में इसके पूर्व कभी देखने में नहीं आया । समस्त आदर्शों की परिपूर्णता ही श्रीरामकृष्ण-अवतार का वैशिष्ट्य है ।

अवतार के उपदेशों का तात्पर्य

अब मारवाड़ी गृहस्वामी ठाकुर से बोले, "आपमें राग-द्वेष नहीं है ।" ठाकुर ने तत्काल कहा, "क्यों? जिस गाड़ीवाले से कलकत्ते आने की बात हुई थी, वह तीन आने पैसे ले गया, फिर नहीं आया, उससे तो मैं खूब चिढ़ गया था ।" उनका भाव यह है कि अवतार होकर भी देहधारण करने से ही थोड़ा-बहुत राग-द्वेष रहेगा, परन्तु वह बाहर से देखने में राग-द्वेष का आकार मात्र ही होगा, उससे किसी का अनिष्ट नहीं होगा ।

प्रश्न उठ सकता है कि पुराणों में तो लिखा है कि उन्होंने क्रुद्ध होकर असुरों का वध किया था? पुराणों के मतानुसार उन्होंने असुरों पर कृपा करके उन्हीं के उद्धार के लिए उनका संहार किया । दुर्गा-सप्तशती में लिखा है –

चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता च दृष्टा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि ।। (४/२२)

– हे वरदे, हृदय में मुक्तिदायिनी कृपा और युद्ध में मृत्युदायिनी कठोरता – तीनों लोकों में एकमात्र आप में ही ये गुण एकत्र देखने को मिलते हैं ।

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत् प्रहिणोषि शस्त्रम् ।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूताः
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽतिसाध्वी ।। (४/१९)

– आपकी दृष्टि मात्र से ही असुरों का कुल भस्मीभूत हो जाता, तथापि आपने उनके ऊपर अस्त्रों का प्रयोग किया, ताकि शत्रुगण भी आपके अस्त्राघात से पवित्र होकर स्वर्गलाभ करें । यह आपकी उनके प्रति असीम कृपा है ।

वैसे यह अलग बात है कि न जाने उनकी यह कृपा हम लोग सहन कर पायेंगे या नहीं! आपात् दृष्टि से तो हम देवी को निर्मम ही देखते हैं । श्रीकृष्ण के आचरण से भी काफी छल-कपट व्यक्त हुआ है । उन लोगों के ऐसे ही कुछ आचरणों से हम भ्रमित हो जाते हैं । इसीलिए कहा गया है – **ईश्वराणां वचः कार्यं तेषामाचरणं क्वचित्** – लोकोत्तर पुरुषों के उपदेश का पालन करना चाहिए, पर उनके आचरण कभी-कभार ही अनुकरणीय होते हैं । (भागवत, १०/३३/३२) उनके सारे व्यवहार सभी के लिए ग्रहणीय नहीं होते । जो असाधारण व्यक्ति हैं, वे यदि ऐसा आचरण भी करें, जो हमारी दृष्टि में दोषपूर्ण हों, तथापि इससे उनकी कोई हानि नहीं होती – **तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा** – तेजस्वी व्यक्तियों के लिए वह दोषपूर्ण नहीं होता, जैसे अग्नि के लिए सर्वभोक्ता होना दोषपूर्ण नहीं है । (भाग., १०/३३/३०) पर हम लोग उनका अनुसरण करें, तो हानि हो सकती है । ठाकुर कहते हैं – जिसका कानून है, वह चाहे तो उसे तोड़ भी सकता है ।

ठाकुर के जीवन में भी हम देखते हैं कि उनके उपदेशों को पालन करने का प्रयास किया जा सकता है, परन्तु क्या हम उनके समस्त आचरणों का अनुसरण कर सकते हैं? ऐसा करना हमारे लिए हितकर नहीं होगा ।

यहाँ तक कि उनके समस्त उपदेश भी सबके लिए समान रूप से उपयोगी नहीं हैं । गीता में भगवान अर्जुन से कहते हैं – यह करो, इसे यदि न कर सको तो वह करो, वह भी न कर सको तो दूसरा करो । इस प्रकार वे उन्हें विभिन्न वैकल्पिक पथ दिखा रहे हैं । ठाकुर भी एक स्थान पर उपदेश देते हुए कहते हैं – मुझे जो कहना था वह मैंने कह दिया, अब तुम लोग इसका सिर-पूँछ निकालकर ग्रहण करना । अर्थात् जितना ले सकते हो, लेना; बाकी छोड़ देना । ठाकुर ने कहा है कि शास्त्र की बातों में चीनी तथा बालू मिले हुए हैं । उसमें से बालू को

छोड़कर चीनी को ग्रहण करना होगा ।

स्वामी विवेकानन्द से उनके एक शिष्य ने कहा – कभी आप एक प्रकार से कहते हैं और कभी दूसरे प्रकार से; हम लोग भ्रमित हो जाते हैं कि कौन-सा करें । स्वामीजी बोले – सन्देह होने पर मुझसे पूछना । तात्पर्य यह है कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सबके लिये ग्रहणीय नहीं है, इसीलिए सन्देह उठता है । किसके लिए कौन-सा उपदेश हितकर है, यह प्रत्यक्ष रूप से उन्हीं से पूछकर जाना जा सकता है ।

इसीलिए शास्त्र में अधिकारवाद पर विशेष जोर दिया गया है । जो जिस पथ का अधिकारी है, वह उसी को अपनायेगा । सारे उपदेश सभी के लिए हितकर नही होते । जो अपनी क्षमता से परे है, उसे ग्रहण करने पर मनुष्य पतित हो सकता है, आदर्श से भ्रष्ट हो सकता है । अधिकारियों में भेद के अनुसार उपदेशों में भी तारतम्य अवश्य होगा । योग्य तथा ज्ञानी गुरु यह निर्धारित कर देते हैं कि भिन्न भिन्न मार्गो में से कौन-सा किसके लिए उपयोगी है । यह सब ग्रन्थों में नहीं लिखा रहता, अपने विवेक के द्वारा निश्चित करना पड़ता है । उदाहरण के लिए आयुर्वेद शास्त्र में एक एक रोग के लिए कई औषधियों की व्यवस्था की गयी है । यदि एक से ही रोग ठीक हो जाय, तो फिर इतनी औषधियाँ क्यों बताई गयीं? इसका कारण यह है कि रोग के लक्षण समझकर भिन्न भिन्न दवाओं में से चुनना पड़ता है और यह कार्य अनुभवी चिकित्सक का है । हर कोई पुस्तकें पढ़कर चिकित्सा नही कर सकता ।

शास्त्र में द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक वाद हैं और उनके असंख्य विभाग हैं । मुझे विचार करना होगा कि इनमें से कौन-सा मेरे लिए अनुकूल है; या फिर मैंने विचार करके देखा कि अद्वैतवाद सर्वाधिक युक्तिसंगत है, परन्तु उसके साथ ही यह भी विचार करके देखना होगा कि क्या मैं उसका अपने जीवन में उपयोग कर सकूँगा? इसीलिए ठाकुर बारम्बार कहते हैं – 'मैं राम हूँ' यह कहना अच्छा नहीं; इससे मंगल के स्थान पर अमंगल होने की अधिक सम्भावना है । जिसका जैसा अधिकार है, उसे उसी के अनुसार सिद्धान्त ग्रहण करना पड़ेगा । ठाकुर कहते थे – अपने सिद्धान्त में दृढ़ रहो और दूसरों के सिद्धान्त पर कटाक्ष मत करो । दूसरे के सिद्धान्त की आलोचना करने से कोई लाभ नहीं, बल्कि उससे और भी भ्रम उत्पन्न होगा । इसीलिए उपनिषद् में अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने से मना किया गया, क्योंकि वह विचारों को मलिन कर देता है – **नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्** – बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह तो वाणी का व्यायाम मात्र है (बृह. उप. ४/४/२१) ।

इस मलिन विचार-शक्ति के द्वारा चाहे जितना भी प्रयास क्यों न किया जाय, तत्त्व तक नहीं पहुँचा जा सकता । **तर्क-प्रतिष्ठानात्** – शंकराचार्य के समान सूक्ष्म-बुद्धि से सम्पन्न तथा तर्कशील व्यक्ति भी कहते हैं – तर्क के द्वारा तत्त्व की स्थापना नहीं होती । क्यों नही होती? शंकर ने स्वयं ही इसका उत्तर दिया है – तुम तर्क के द्वारा जिसकी स्थापना करोगे, कोई दूसरा तर्क के द्वारा उसका खण्डन कर डालेगा । इस पर पूर्व पक्ष कह सकता है कि मैं उसे भी विचार में परास्त करूँगा और इस प्रकार जहाँ भी जितने भी पण्डित हैं, उन सबको परास्त करके अपना अकाट्य तत्त्व स्थापित करूँगा । इसके उत्तर में दूसरा पक्ष कहेगा कि जिन लोगों का अभी जन्म ही नहीं हुआ है, वे यदि बाद में तुम्हारे सिद्धान्त का खण्डन करें, तो तुम उन्हें कैसे परास्त करोगे! कितने ही ज्ञानी लोग कितने ही सिद्धान्तों की स्थापना कर गये हैं और वे सभी बाद में युक्ति-विचार के द्वारा छिन्न-भिन्न हो गये । शंकर ने स्वयं ही तर्क के द्वारा अन्य मतों का खण्डन करके अद्वैतवाद की स्थापना की है । फिर रामानुज कहते हैं कि सूत्र तो उज्ज्वल नक्षत्रों की भाँति हैं, परन्तु भाष्यमेघ ने उन्हें आच्छन्न कर दिया है अर्थात् शांकर भाष्य ने तत्त्व को प्रकाशित करने के स्थान पर, उसे ढँक दिया है । अत: तर्क की सहायता से तत्त्व की स्थापना नहीं की जा सकती । कोई भी सिद्धान्त अकाट्य नहीं है ।

अत: जब तक हमारा मन शुद्ध नहीं हो जाता, जब तक मन के ऊपर से सारे आवरण दूर नहीं हो जाने, तब तक सत्य हमारे सामने प्रकट नहीं होगा । शंकराचार्य कहते हैं – **तत्त्व-पक्षपातो हि स्वभावो धीयाम्** – बुद्धि अपने स्वभाव से ही तत्त्व या सत्य की पक्षपाती है । परन्तु जिस बुद्धि के द्वारा हम सत्य को जानेंगे, यदि वही आच्छन्न हो तो? तथापि एक आदर्श को पकड़कर, जिसे अंग्रेजी में working hypothesis कहते हैं, उसे पकड़कर विचार करने पर हम आगे बढ़ सकते हैं और यदि हममें आन्तरिक निष्ठा हुई, तो चलते चलते हमारी बुद्धि क्रमश: शुद्ध होती रहेगी, क्रमश: हमारे सामने लक्ष्य का स्वरूप भी उद्घाटित होता रहेगा और अन्तत: बुद्धि के निरावरण हो जाने पर उसमें सत्य प्रकट हो उठेगा ।

यह शुद्ध बुद्धि न होने के कारण ही मनुष्य अवतार का अवतारत्व नहीं समझ सकता, भ्रान्तिवश उन्हें मनुष्य समझकर उनकी अवज्ञा करता है । जब खण्ड व्यक्ति और अखण्ड सत्ता मिलकर एक हो जायेंगे, द्रष्टा तथा दृश्य का भेद दूर हो जायेगा, तब विचार शुद्ध हो जायेगा ।
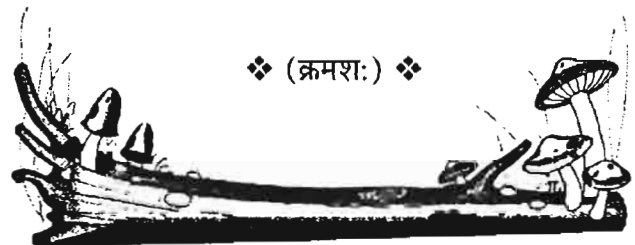
मानस-रोगों से मुक्ति (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन सैंतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक है। – सं.)

श्रीमद्भागवत में यह कथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। भगवान श्रीकृष्ण जब मथुरा गये, कंस का वध किया और अपनी माँ देवकी के पास जाकर उनसे पूछा – माँ, तुम्हारे मन में कोई इच्छा हो, तो कहो, मैं उसे पूरा करूँगा। माँ ने कहा – पुत्र, तुममें तो मृत को जीवित करने का अद्भुत सामर्थ्य है। तुमने अपने गुरु संदीपनी के पुत्रों को जीवित कर दिया। मेरे भी छह पुत्रों को कंस ने मार डाला। क्या तुम उन्हें जीवित करके ला सकते हो? भगवान ने मुस्कुराकर माँ के आदेश का पालन किया और उन छह पुत्रों को जीवित करके देवकी के सामने खड़ा कर दिया। अब इसके अर्थ पर विचार कीजिए। इसका अभिप्राय क्या है? भगवान के आगमन के पूर्व जो सद्गुण मर गये थे, वे भी भगवान की प्राप्ति के बाद चैतन्य हो गये, भगवान की कृपा से जुड़कर जीवित हो गये।

दूसरी ओर सबसे बड़ी समस्या यह है कि बुराइयों को मिटाना बहुत कठिन है। सारे पुराणों को उठाकर आप चाहे जिस राक्षस के सन्दर्भ में पढ़ेंगे, यही पाएँगे कि उनमें अद्भुत शक्तियाँ हैं, बड़े चमत्कार हैं। इनकी मृत्यु सरलता से नहीं होती। यहाँ तक कि गोस्वामी जी ने तो 'मानस' में एक दूसरा सांकेतिक दृष्टान्त दिया है। आपने वह कथा सुनी होगी, देवी के प्रसंग में, एक ऐसा राक्षस निकल आया, जिसका रक्तबीज नाम था। रक्तबीज से जब देवताओं का युद्ध होता था, तब देवता उसका सिर काट देते थे, पर सिर कटने पर वह मरता नही था, बल्कि उसका परिणाम बिल्कुल उल्टा होता था। जब रक्तबीज का सिर कट जाता था, तो उसका रक्त पृथ्वी पर गिरने लगता था और उसके रक्त के प्रत्येक बूँद से एक एक रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। देवता बेचारे 'त्राहि त्राहि' करने लगे। सोचने लगे कि इससे लड़ें कि न लड़ें? न लड़े तो यह जो एक है, उसी ने संकट में डाला हुआ है और लड़ते हैं तो हजार होकर और अधिक संकट उत्पन्न कर देता है। वहाँ पर भी यही संकेत आता है। गोस्वामी जी ने इसे कृपा से जोड़ दिया। देवता अगर केवल अपने बल से लड़ेंगे, तो रक्तबीज को हरा नही सकेगे और रक्तबीज अगणित रूपों में प्रगट हो जायेगा। तब कहा जाता है कि देवताओं ने देवी से प्रार्थना की। देवी कालिका के रूप में प्रगट हुईं और इतने अद्भुत रूप से रक्तबीज पर प्रहार किया कि उसका सिर कट गया, परन्तु उसके रक्त की बूँदे पृथ्वी पर नहीं गिरने पाईं। बड़े विचित्र रूप से उन्होंने उसके रक्त को पृथ्वी पर गिरने से पूर्व ही स्वयं ग्रहण कर लिया और इस तरह से रक्तबीज का विनाश हुआ। गोस्वामीजी इसे विनय-पत्रिका में जोड़ देते हैं। वे बड़े ही सुन्दर पद्धति से कहते हैं कि ये सद्गुण ही देवता हैं और हमारे जीवन के पाप ही रक्तबीज हैं। जब तक हम देवी को प्रसन्न नहीं करेंगे, तब तक रक्तबीज नहीं मरेगा। यह देवी कौन है? गोस्वामीजी का 'विनय-पत्रिका' में वाक्य है –

करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं।।
हरति एक अघ-असुर-जालिका।
तुलसिदास-प्रभु-कृपा-कालिका।। १२८/३-४

भगवान की कृपा ही काली देवी हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कृपा में सामर्थ्य है कि वे हमारी वृत्ति को अधोगामी होने से बचा लें। जब कृपा की काली प्रगट होती हैं, तब पाप का रक्तबीज नष्ट होता है।

अब इसे चाहे दैत्य अथवा राक्षस के सन्दर्भ में देखें अथवा दुर्गुण-दुर्विचार या रोग और स्वास्थ्य के सन्दर्भ में, दोनों रूपों में ये बड़े शक्तिशाली हैं। यह तो कहने की एक पौराणिक शैली है। वस्तुतः जीवन में जितने दुर्गुण हैं, ये बड़े शक्तिशाली हैं। इन्हें जीतना बड़ा कठिन है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम निराश हो जायँ। अन्त में हम देखते हैं कि अन्तिम विजय देवताओं की होती है। मानो यह आश्वासन दिया गया कि नहीं, नहीं, कंस चाहे जितना बलशाली हो, पर उसकी मृत्यु का उपाय है। रावण कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, उसकी भी मृत्यु का उपाय है। इसी प्रकार से इन दुर्गुणों के भी विनाश का उपाय है। उसी तरह से ये मन के रोग हैं। वैसे तो लगता है कि ये असाध्य हैं। आयुर्वेद में इसके लिये तीन शब्द कहे गये हैं – साध्य, कष्टसाध्य और असाध्य। जो रोग सरलता से ठीक हो जाता है, उसे आयुर्वेद की भाषा में साध्य कहा जाता है और जो रोग बहुत-सी बड़ी बड़ी दवाइयों, अपने बड़े बड़े वैद्यों को कठिन परिश्रम से ठीक हो, उसे कहते हैं कष्टसाध्य या कठिनसाध्य। और जो श्रेष्ठतम चिकित्सकों की चिकित्सा और दवाइयों के बाद भी अच्छा न हो, तो उसे असाध्य रोग कहते हैं। गोस्वामी जी ने कहा कि यदि इस दृष्टि

से विचार करके देखें, तो शरीर के रोगों में कुछ तो असाध्य हैं, कुछ कष्टसाध्य, लेकिन मन के रोगों पर विचार करके देखे, तो ऐसा लगता है –

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँस सो किमि लहै समाधि ।।
७/१२१(क)

इनमें सभी व्याधियाँ असाध्य लग रही हैं । बेचारा व्यक्ति एक ही असाध्य रोग से त्रस्त हो जाता है, परन्तु जहाँ व्यक्ति और समाज के मन में, जीवन में, इतनी असाध्य समस्याएँ उत्पन्न हो जायँ, तब वह क्या करे? इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ये रोग हमारे भीतर से ही उत्पन्न होते हैं । रोग यदि बाहर से आता हो, तो उस पर प्रहार करना सरल है, पर यदि वह भीतर से ही उत्पन्न हो, तो उस पर प्रहार करना अत्यन्त कठिन है । तब उसके लिए सूत्र दिया गया –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा । ७/१२२(क)/५

भगवत्कृपा सब रोगों को दूर कर देती है । उनकी कृपा से योग्य वैद्य मिल जाते हैं, दवा मिल जाती है और व्यक्ति के जीवन से रोग नष्ट हो जाते हैं, अन्त:करण स्वस्थ हो जाता है । यही मूल सूत्र है । कृपा को ही मूल में रखा गया है और यही से प्रारम्भ किया गया है । 'मानस' की मूलदृष्टि यही है कि भगवत्कृपा के बिना बुराई पूरी तरह से मिट नहीं सकती ।

हमारे जीवन में अच्छाई और बुराई के संघर्ष में दुर्गुण ही सदा विजयी होते रहेंगे और अमर हो जाएँगे, सद्गुण मरते चले जाएँगे, तब क्या होगा? वही दो बातें 'मानस' में संकेत सूत्र के रूप में दी गई हैं । श्री भरत की वनयात्रा को रामायण में इसी रूप में प्रस्तुत किया गया । यह समस्या वहाँ भी दिखाई दे रही है । कैकेयी जी के चरित्र को यदि देखें, तो समस्या के मूल में वे ही हैं । एक ओर तो कैकेयी जी का चरित्र एक महान् चरित्र है । उनमें उदारता, श्री-सम्पन्नता, शौर्य-सम्पन्नता आदि अनेक गुण विद्यमान हैं । वे महाराज दशरथ की प्रिया हैं । महाराज दशरथ से बढ़कर धर्मात्मा और महान् भला और कौन होगा, जिनके यहाँ भगवान का जन्म हुआ । लेकिन यहाँ पर भी समस्या आई । अब इस समस्या के मूल में कौन है? कैकेयी जी । प्रश्न उठता है कि कैकेयी जी अच्छी हैं या बुरी, वन्दिता हैं या निन्दिता? रामायण में तो इतनी मधुर पद्धति से इसे प्रस्तुत किया गया है, और यही जीवन का सत्य है । कई लोग बड़ा बल देकर आग्रह करते हैं कि कैकेयी जी बड़ी महान् थीं । वे लोग तो रामायण का पूरा श्रेय कैकेयी जी को ही देकर उनका गुण गाते हैं । पर कई वक्ता ऐसे हैं, जो कैकेयी जी की निन्दा करते हैं । कई लोग तो मुझसे पूछ देते हैं कि आपकी दृष्टि में कैकेयी जी कैसी हैं, वन्दिता या निन्दिता? मैं तो कहता हूँ – भाई, कैकेयी जी की निन्दा करनेवाला इतना बड़ा है कि हम उनकी बात नहीं काट सकते और प्रशंसा करनेवाला भी इतना बड़ा है कि हम कैसे कहें कि उन्होने ठीक नहीं कहा । कैकेयी जी की निन्दा करनेवाले तो रामायण के सबसे महान् सन्त पात्र भरत जी महाराज हैं । वे तो कठोर-से-कठोर शब्दों में कैकेयी जी की निन्दा करते हैं । दूसरी ओर कैकेयी जी की प्रशंसा करनेवाले भी स्वयं साक्षात् भगवान राम हैं । जब स्वयं भगवान राम प्रशंसा करे और श्री भरत निन्दा करें, तो ऐसी स्थिति में हम किसकी ओर से बोलें? इसी तरह से चित्रकूट की सभा में बड़ी विचित्र स्थिति आ गई । जब एक ही सभा में दो अलग अलग विचारवाले वक्ता बोलने लगें, तो श्रोता के सामने बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती है, पर वहाँ श्रोता से अधिक समस्या वक्ता के सामने उत्पन्न हो गयी । चित्रकूट की सभा में वक्ता भगवान राम भी हैं और श्री भरत भी । पहले भरत जी बोलते हैं । उन्होंने अपना भाषण कैकेयी जी की आलोचना से ही प्रारम्भ किया, लेकिन वक्ता जैसे श्रोता की आकृति देखकर समझ लेता है, श्री भरत समझ गये कि कैकेयी जी की आलोचना भगवान राम को अच्छी नहीं लग रही है, तो उन्होंने तुरन्त बड़ी चतुराई से कहा – प्रभु, अगर किसी बात में मतभेद हो जाय, तो उसका एक ही उपाय है कि बहुत-से लोगों से पूछ लिया जाय कि उनकी क्या राय है? यहाँ सब जितने श्रोता बैठे हैं, उनसे पूछ लीजिए कि कैकेयी जी के प्रति उनकी क्या धारणा है? श्री भरत ने आँख उठाकर श्रोताओं की ओर देखा और हाथ उठाकर कहा– सारा विश्व मेरी माता की कुबुद्धि का साक्षी है –

जननी कुमति जगतु सबु साखी । २/२६२/१

यह उनकी बड़ी चतुराई की भाषा थी । मानो भगवान से कह रहे हैं कि आपके पक्ष में कोई गवाह नहीं है । गुरु वशिष्ठ की ओर देखा । गुरुजी ने भी स्वीकार कर लिया क्योंकि गुरुजी भी कैकेयी जी के बड़े कठोर आलोचक हैं । वे तो –

प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी ।
कैकेई कुटिल कीन्हि जसि करनी ।। २/१७०/५

सबसे शीर्ष गुरुजी हैं कैकेयी जी की निन्दा करनेवाले और समाज में साधारण स्थितिवाला है निषाद । पर निषाद व गुरुजी यहाँ बिल्कुल एकमत हैं । निषादराज की भाषा क्या है? –

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह । २/९१

भरत जी का तात्पर्य यह है कि गुरुजी कहते हैं – कैकेयी कुटिल है और आपके मित्र निषादराज भी उनके लिये उसी शब्द का प्रयोग करते हैं – कुटिलपनु कीन्ह । सारे अयोध्या के लोग कहते हैं कि ये पापिनी हैं । ऐसी स्थिति में जब मैं उनकी निन्दा करता हूँ, तो क्या यह ठीक नहीं है? सचमुच श्री भरत के पक्ष में सारे श्रोता थे । लेकिन भगवान श्री राघवेन्द्र भी कोई साधारण वक्ता नहीं हैं । जब वे बोलने चले, तब बड़ी विचित्र

बात हुई । उन्होंने अपने भाषण का प्रारम्भ कैकेयी जी की प्रशंसा से नहीं किया, बल्कि श्री भरत की प्रशंसा से किया, फिर बीच में कैकेयी जी को और अन्त में श्री भरत को ले आये । उस भाषण की विचित्रता का रहस्य क्या था? यह कि उन्होंने भाषण कैकेयी जी की प्रशंसा से प्रारम्भ नहीं किया । वे समझ गये कि श्रोताओं का रुख जब अनुकूल नहीं है और मैं उनके विरुद्ध बोलूँगा, तो वे मेरी बात को पसन्द नहीं करेंगे, इसलिए श्रोताओं को पहले अपने पक्ष में करना चाहिए । प्रभु श्री भरत की प्रशंसा करने लगे । अयोध्या के जितने भी नागरिक आए हुए थे, वे सब-के-सब श्री भरत के परम भक्त और बड़े प्रशंसक थे । वहाँ पर गोस्वामी जी ने लिखा है –

भरतु प्रानप्रिय भे सबही के । २/१८४/२

अयोध्या में प्रत्येक व्यक्ति को श्री भरत प्राणप्रिय लगते हैं । भगवान श्रीराम ने जब भरत जी की प्रशंसा की, तो श्रोता एकदम भावाभिभूत हो गये । तब उन्होंने बड़ी चतुराई से कैकेयी जी को उस सन्दर्भ से जोड़ दिया । उन्होंने मानो श्रोताओं से पूछा कि भरत की प्रशंसा में मैंने जो बातें कही हैं, उस पर आप लोगों को सन्देह तो नहीं है? श्रोताओं ने कहा – नहीं नहीं, महाराज, आपने बिल्कुल ठीक कहा, भरत तो महान् हैं । तब प्रभु ने तत्काल श्रोताओं से पूछ लिया कि यह बताइए कि हमारी माँ कैकेयी जी न होतीं, तो इतने महान् सन्त हमें कैसे मिलते? जिस माँ ने इतने बड़े सन्त को जन्म दिया, उनकी निन्दा करना क्या उचित है? आप लोग इस बात पर तो दृष्टि डालिए कि वे जननी किनकी हैं? किसको जन्म दिया है उन्होंने? इस पर आप लोग दृष्टि नहीं डाल रहे हैं और उनकी आलोचना कर रहे हैं । वहाँ पर भगवान के मुँह से एक बड़ा विचित्र-सा वाक्य निकल गया । उन्होंने कहा –

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई । २/२६३/८

जो हमारी जननी को दोष देते हैं, वे जड़ हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भगवान ने जड़ता शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया, जो साधारणत: प्रचलित है । जड़ता तीन प्रकार की होती है – एक तो अज्ञानजन्य, दूसरी ज्ञानजन्य और तीसरी प्रेमजन्य । आगे चलकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान ने किन अर्थों में जड़ता शब्द का प्रयोग किया ।

भगवान राम ने कैकेयी जी की प्रशंसा करते हुए जब श्री भरत की ओर देखा कि उन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा । भरत जी तो भगवान राम का भाषण सुनकर गद्गद हो रहे थे, उनकी आँखों से आँसू छलक रहे थे । प्रभु को सन्तोष हुआ कि चलो, कम-से-कम भरत पर तो मेरे भाषण का प्रभाव पड़ा । उन्होंने श्री भरत से पूछा – भरत, मैं जो कह रहा था, वह तुम्हें कैसा लगा? श्री भरत ने उनके चरण पकड़कर कहा – प्रभो, कथा सुनते समय मुझे जिस आनन्द की अनुभूति हुई, उसमें मुझे कथा की नहीं, कथावाचक की – आपकी महानता दिखाई दे रही थी । क्या? बोले – प्रभो, आप जब बोल रहे थे, तब मुझे प्रतिक्षण यही लग रहा था कि ये कितने महान् हैं, जिसने इतना कष्ट दिया, उसकी भी ये प्रशंसा कर सकते हैं । मैं कैकेयी जी की प्रशंसा सुनकर नहीं, आपकी उदारता पर गद्गद हो रहा था ।

भगवान श्री राघवेन्द्र आगे चलकर जब भरत जी की प्रेमविह्वल अवस्था देखकर उनकी प्रशंसा करते हैं, तब वहाँ फिर उसी शब्द का प्रयोग करते हैं – स्नेह की जड़ता । 'मानस' में तीनों अर्थों में जड़ता शब्द का प्रयोग हुआ है । ज्ञानी भी जड़वत् हो जाता है और प्रेमी भी ।

सोउ सनेह जड़ता बस कहहू । २/१७८/८

भगवान राम ने कहा कि भरत मुझसे इतना प्रेम करते हैं, इतना स्नेह करते हैं कि मेरे दु:ख को देखकर वे कैकेयी जी की निन्दा करते हैं । वस्तुत: यदि हम परिणाम पर दृष्टि डालें, तो कैकेयी जी निन्दनीय नहीं हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब भगवान राम कैकेयी जी की प्रशंसा करते हैं, तो यह भगवान राम की महानता है, वस्तुत: वह कैकेयी जी की महानता नहीं है, लेकिन कैकेयी जी के चरित्र का मूल सूत्र वही है । भगवान उसे दूसरी दिशा में मोड़ देते हैं । भगवान राघवेन्द्र का तात्पर्य भी वही था, जो इस प्रसंग से जुड़ा हुआ है । जैसे देवता की मृत्यु के बाद उसके पुनर्जीवन की समस्या है, उसे ही गोस्वामी जी यहाँ पर जोड़ देते हैं ।

कैकेयी जी महान् हैं । उनका विवाह महाराज दशरथ से हुआ और उनके प्रति कैकेयी जी का इतना अधिक अनुराग है, वे इतनी महान् पतिव्रता हैं कि वे युद्धक्षेत्र में भी महाराज दशरथ का साथ नहीं छोड़तीं । वे उनके साथ वहाँ भी गईं । इस कथा में जो गहरा रहस्य है, उस पर बहुधा लोगों का ध्यान नहीं जाता । महाराज दशरथ के साथ कैकेयी जी भी युद्धक्षेत्र में गईं । सारे अयोध्या में समाचार फैल गया कि कैकेयी जी के समान महाराज से प्रेम करनेवाला कोई नहीं है । वे तो महाराज से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं रह सकतीं । वहाँ पर बड़ी सांकेतिक बात आती है कि महाराज श्री दशरथ जिस रथ पर बैठकर लड़ रहे थे, उस रथ की कील निकल गई । इसका सांकेतिक अर्थ क्या है? लंका-काण्ड में धर्मरथ का वर्णन किया गया है । उसमें धर्मरथ के अलग अलग अंगों का जो प्रतीकात्मक वर्णन है, वे सब सद्गुण हैं । मानो यह महाराज दशरथ के चरित्र की ओर संकेत है । यह बात बड़े काम की है । किसी रथ में क्या क्या होना चाहिए? इस प्रसंग में संकेत यह है कि एक कील भी बड़ा महत्वपूर्ण है । पहिया, घोड़े, सारथी – सब ठीक हैं, पर महाराज दशरथ के रथ में एक कील की कमी हो गई, कील गिर गई । यह कील का गिर

जाना महाराज दशरथ के चरित्र की वास्तविक कमी है । जब तक यह कील धुरी में लगी रहेगी, तब तक पहिया सन्तुलित रहेगा और जब कील निकल जायेगी, तो पहिया भी निकल आयेगा और रथ असन्तुलित होकर गिर जायेगा । महाराज दशरथ के जीवन में आसक्ति के असन्तुलन की समस्या है । रामायण में आगे चलकर उनकी इस दुर्बलता को प्रकट करते हुए कहा गया है – चेहरे को देखकर मुकुट सीधा किया –

बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा ।। २/२/६

बस, यही मानो चरित्र में एक छोटी-सी कील की कमी है । कील गिर जाने से जब पहिया गिरने लगा, तो कैकेयी जी ने तुरन्त झुककर उस कील के स्थान पर अपनी दो ऊँगलियाँ लगा दीं । लोग धन्य धन्य कर उठे । महाराज दशरथ ने देखा, तो चकित हो गये । अब यह अच्छा हुआ या बुरा – इस पर जरा विचार करके देखिए । वैसे तो यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ, पर सारे अनर्थो का जड़ यही बना । कैसे बना? एक तो यह कि कील की जगह ऊँगली काम थोड़े ही देगी? वह तो क्षण भर के लिए शोभा ही बन सकती है । क्षण भर के लिए पहिए को गिरने से रोकेगी । ऐसा नहीं हो सकता कि ऊँगली के सहारे पहिया चलता रहे और महाराज दशरथ युद्ध करते रहें । पहिए को तो लम्बे समय तक एक कील ही रोके रख सकती है । पर महाराज दशरथ तो इतने गद्‌गद हो गए कि उन्होंने प्रसन्न होकर कैकेयी जी से कह दिया – कैकेयी, तुमने मेरे रथ को बचाने के लिए, मुझे घायल होने से बचाने के लिए, अपनी दो ऊँगलियाँ लगा दीं, उसके बदले में मैं तुम्हें दो वरदान देना चाहता हूँ । कैकेयी जी बोलीं – अभी नहीं, फिर कभी माँग लूँगी । याद रखिए, जिन दो ऊँगलियों ने महाराज दशरथ को घायल होने से बचाया, उन्हीं दो ऊँगलियों के वरदान ने उनके प्राण भी लिये । महाराज दशरथ की मृत्यु कैसे हुई? बस, उन्हीं दो ऊँगलियों का चमत्कार था । आगे चलकर कैकेयी जी ने वे दो वरदान माँग लिये – एक तो भरत राजा हो और दूसरा, राम चौदह वर्ष के लिए वन जायँ । महाराज दशरथ व्याकुल होकर कैकेयी जी की ओर देखने लगे । बोले – कैकेयी, राम के स्थान पर भरत को राज्य दिया जाय, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन राम का वन जाना बड़ा दुखदायक है । इसका परिणाम क्या होगा, तुम जानती हो? क्या? बोले –

नाहिं त मोर मरनु परिनामा । २/८२/७

मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है । महाराज दशरथ ने सोचा कि कैकेयी मुझसे इतना प्रेम करती है कि मुझे घायल होने से बचाने के लिए उसने अपनी दो ऊँगलियों को रथ के कील के स्थान पर लगा दिया, तो मेरी मृत्यु की बात सुनते ही वह अपनी बात वापस ले लेगी । लेकिन वही कैकेयी आज इतनी बदल गई हैं, इतना विचित्र परिवर्तन आज उनके जीवन में आ गया है, इतनी निष्ठुर हो गई हैं कि महाराज दशरथ से उन्होंने कहा कि आप यह भी सुन लीजिए कि भरत को राज्य चाहे बाद में मिले, इसकी मुझे चिन्ता नहीं, पर राम को वनवास कल ही मिलना चाहिए । राम यदि कल वनवास नही जाएँगे, तो क्या होगा –

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं ।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं । २/३३

राम अगर कल वन नहीं गये, तो मैं प्राण दे दूँगी । सहज भाव से यह कहा जा सकता है कि पत्नी के सामने अगर यह समस्या आ जाय कि किसी एक को प्राण देना ही है, तो पत्नी की सहज भावना यही होती है कि मेरे प्राण भले ही चले जायँ, पर मेरे पति जीवित रहें । यह सहज भाव है और यह दिखाई भी देता है । कैकेयी जी से भी यही अपेक्षा थी । कैकेयी जी ने जो बात कही, वह कोई सहज-स्वाभाविक बात नहीं है । व्यक्ति का हृदय कितना निष्ठुर हो सकता है, इसका वह प्रतीक है । महाराज दशरथ ने कहा – अच्छा, ऐसी परिस्थिति में तुम किसकी मृत्यु चाहती हो? कैकेयीजी ने कहा कि महाराज, मेरी और आपकी मृत्यु में एक अन्तर है । क्या? बोली – **मोर मरन राउर अजस** – मैं मरूँगी, तो आपको कलंक लगेगा । मानो घुमाकर उन्होंने कहा कि आपकी मृत्यु में आपको यश मिलेगा, इसलिए मैं चाहती हूँ कि आपको यश मिले, कलंक न लगने पावे । यदि किसी व्यक्ति को जबरन मौत के मुँह में ढकेलकर उसे शहीद बनाने की चेष्टा की जाय, तब तो यह निर्दयता की पराकाष्ठा है । इतना बड़ा परिवर्तन मनुष्य के मन में कैसे आ सकता है, यही बताने के लिए मानो एक पात्र चुना गया – कैकेयी जी के समान श्रेष्ठचरित्र नारी-पात्र । अयोध्या नगरी जैसी पुण्यभूमि, जहाँ महाराज दशरथ जैसे महान् धर्मात्मा राजाओं का शासन रहा, उस दिव्य भूमि में महाराज दशरथ से जिनका विवाह हुआ, जिनके चरित्र में त्याग और राम के प्रति प्रेम था, जो स्वयं ही बारम्बार महाराज दशरथ से कहती थीं कि अयोध्या का राज्य राम को ही मिलना चाहिए; परन्तु वे सारी वृत्तियाँ उलट गईं, इतनी निष्ठुरता आ गई कि महाराज दशरथ की मृत्यु से, श्रीराम के वनगमन से उनको रंचमात्र दु:ख नहीं है, संकोच नहीं है । यह सब परिवर्तन कैसे हुआ? वही गीता (२/६२-३) का क्रम यहाँ पर भी दिखाई देता है –

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

कैकेयी जी के जीवन में भी यही क्रम है । इसका अभिप्राय यह है कि कैकेयीजी के समान महान् चरित्रवाला भी यदि मन्थरा जैसे दुर्गुण का संग करेगा, चाहे वह कितनी भी छोटी पात्र क्यों न हो, तो इसका परिणाम तो आखिर वही होगा ।

अयोध्या चाहे कितना ही पवित्र नगर क्यों न हो, पर वहाँ भी मन्थरा तो है ही । मन्थरा का संग कैकेयी जी के जीवन में था। यही सद्गुणों के साथ दुर्गुणों की – कुसंग की समस्या है और ये दुर्गुण तथा कुसंग अवसर पाते ही अपना असर दिखा देते हैं । जैसे औषधि में रोगों को दूर कर देने का चमत्कार है, वैसे ही रोगों में भी चमत्कार होता है, वे भी समय पर अपना प्रभाव दिखाते हैं । सत्संग जितना चमत्कारी है, कुसंग उससे कम चमत्कारी नहीं है, बल्कि कभी कभी तो ऐसा भी लगने लगता है कि अच्छे लोगों का प्रभाव कुछ विलम्ब से पड़ता है, पर बुरे लोगों का प्रभाव तो तत्काल दिखने लगता है ।

कैकेयी जी के जीवन में जो समस्या है, उसका समाधान भी वहीं है । भगवान राम कैकेयी जी की प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? कैकेयी जी के इस परिवर्तन का परिणाम क्या हुआ? यह तो स्पष्ट हो गया कि कैकेयी जी इतना बदल सकती हैं, महान्-से-महान् व्यक्ति बदल सकता है । इसका अभिप्राय है कि सद्गुणों में कोई-न-कोई कमी है और ये रोग स्वस्थ-से-स्वस्थ व्यक्ति को भी रुग्ण बना देते हैं ।

अब इसे देवता और दैत्यों के युद्ध के सन्दर्भ में जोड़कर देखें । युद्ध में दैत्य मारे जाते हैं, तो पुन: जीवित हो उठते हैं, पर देवता मारे जाते हैं, तो जीवित नहीं हो पाते । दैत्यों के पास संजीवनी विद्या है और देवताओं के पास वह नहीं है । तब भगवान विष्णु देवताओं को अमृत पिलाते हैं । यह अमृत कहाँ से आया? इसमें दोनों बातें जुड़ी हुई हैं – कृपा और पुरुषार्थ । समुद्र-मन्थन करके अमृत निकाला गया । यह मन्थन है – साधना, पुरुषार्थ और श्रम । यह तो देवताओं को करना ही पड़ेगा । पर मन्थन करने के बाद भी, अमृत निकलने के बाद भी बेचारे देवताओं में इतनी शक्ति नहीं कि वे अपने बल से अमृत पी सकें । समुद्र-मन्थन में दैत्य भी सम्मिलित हो गये थे । अमृत का घड़ा निकला, तो असुरों ने घड़ा छीन लिया । तब किसकी आवश्यकता पड़ी? अमृत तो निकल आया, पर पिलाया किसने –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा । ७/१२२(क)/५

भगवान कृपा करके न पिलावें, तो देवताओं को अमृत पीने को ही न मिले । इसीलिए पग पग पर कृपा की जरूरत है । भगवान राम ने कहा कि अभी तो देखने पर यही लगेगा कि बड़ा अनर्थ हो गया, पर आगे चलकर इसी के परिणामस्वरूप अमृत प्रगट होनेवाला है । उस अमृत को प्रगट करने के लिए ही यह मेरा वन-गमन है । मेरे इस वन-गमन को अगर आप इस रूप में देखेंगे कि कैकेयी जी ने मुझे कष्ट में डाल दिया, तब तो कैकेयी जी निन्दनीय लगेंगी, लेकिन यदि आप यह देखेंगे कि इस वन-गमन का परिणाम क्या हुआ, तो कैकेयी जी आपको परम वन्दनीय लगेंगी । क्या परिणाम हुआ भगवान राम के वन-गमन का? वहाँ पर भी अमृत प्रगट किया गया –

पेम अमिय मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर। २/२३८

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने भरत-सिन्धु का मन्थन किया और उसमें से प्रेम का अमृत निकला । उस प्रेम के अमृत को पीकर कैकेयी जी के जीवन में परिवर्तन आया, वे स्वस्थ हुईं । श्री भरत उन्हें चित्रकूट ले जाते हैं, श्री राघवेन्द्र के सम्मुख ले जाते हैं । इस प्रकार कैकेयी जी पहले एक पवित्र चरित्र के रूप में आती हैं, उसके बाद एक रोगी के रूप में और तब उन्हें भरत जी जैसे वैद्य मिल गये, भगवान की कृपा मिल गयी । 'मानस' में भरत आजी की गणना सबसे बड़े वैद्यों में की गई है । भरत जी के लिये कहा गया –

जड़ चेतन मग जीव घनेरे ।
जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ।।
ते सब भए परम पद जोगू ।
भरत दरस मेटा भव रोगू ।। २/११६/१-२

भरत जी मानो वैद्य हैं और श्री राघवेन्द्र प्रेम रूपी अमृत की सृष्टि करके रोगी को स्वस्थता और मृत को जीवन प्रदान करते हैं । इस तरह जब दोनों का सामंजस्य होता है, तब कैकेयी जी स्वस्थ हो जाती हैं और रामराज्य की स्थापना में सहयोगिनी बनती हैं ।

इसका मूल तात्पर्य यह है कि संसार में कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि मैं दुर्गुणों से मुक्त हूँ या मुझे दुर्गुणों या अस्वस्थता से भय नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को भय है । व्यक्ति यदि इस बात को जान ले; जान लेने का तात्पर्य यह नहीं कि निराश हो जाय, जान लेने के बाद सद्गुरु वैद्य के पास जाय, पुरुषार्थ और साधना के लिए प्रस्तुत हो जाय । वैद्य जो दवा बताएँ, गुरु जो साधन बताएँ, उसका ठीक ठीक सेवन करे, पालन करे, कुपथ्य न करे और इसके साथ-ही-साथ भगवान की कृपा हो, तो रोग दूर हो सकता है ।

❖ **(क्रमशः)** ❖

विद्या और विनय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारे एक परिचित हैं। बड़े पण्डित हैं। उनके ज्ञान का क्षेत्र काफी विस्तृत है। वे किसी भी विषय पर सस्कृत साहित्य से धारा-प्रवाह उद्धरण दे सकते हैं। पर लोग उनकी विद्या का लाभ नहीं उठा पाते। कारण यह है कि उनकी विद्वत्ता में मध्याह्न के सूर्य की सी प्रखरता है। दोपहर का सूर्य यदि आलोक देता है, तो ताप भी कम नहीं देता। दोपहर के सूर्य को न तो कोई देखता है, न देखने की इच्छा ही करता है। व्यक्ति यदि कमरे में हो, तो सूर्य के उत्ताप से बचने के लिए खिड़की बन्द कर लेता है या उस पर पर्दा खींच लेता है। जहाँ सूर्योदय और सूर्यास्त को देखने के लिए मनुष्य में आग्रह होता है, वहाँ सभी लोग मध्याह्न के सूर्य से बचना चाहते हैं। मनुष्य प्रकाश तो चाहता है, पर उसके ताप को नहीं चाहता।

यही बात विद्या के सन्दर्भ में भी लागू होती है। जिसमें अपने पाण्डित्य का अभिमान है, ऐसे व्यक्ति की विद्वत्ता दूसरों पर धौंस जमाने के लिए होती है, इसलिए लोग उससे दूर भागते हैं। विद्या तभी कल्याणकारी होती है, जब वह विनय से युक्त होती है। विनय ऐसा गुण है, जो विद्या के उत्ताप से व्यक्ति की रक्षा करता है और विद्या का फल उसे प्रदान कर उसके जीवन को धन्य कर देता है।

विद्या अज्ञान पर नश्तर का काम करती है। जब हम किसी व्रण को नश्तर से चीरते हैं, तो उससे लाभ तो होता है, मगर पीड़ा का भोग भी करना पड़ता है। पर एनिस्थीशिया के द्वारा व्यक्ति के उस अग को सुन्न करके चीरा लगाया जाय, तो लाभ के साथ साथ चीरे की पीड़ा से भी राहत मिल जाती है। विनय एनिस्थीशिया की भाँति है, जो हमारे अहकार को सुन्न कर हमें विद्वत्ता के उत्ताप से बचा लेती है।

वस्तुतः मनुष्य का ज्ञान ज्यों ज्यों विस्तृत होता जाता है, उसमें स्वाभाविक रूप से ज्ञान की व्यापकता और अपनी क्षुद्रता को देखकर विनय का उद्रेक होता है। यदि ज्ञान के साथ मनुष्य में विनय न आये, तो समझना चाहिए कि ज्ञान की प्रक्रिया में कोई त्रुटि रह गयी है। आज की इस बीसवीं शताब्दी के बड़े बड़े वैज्ञानिक अधिकाधिक विनयी होते जा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान का दम्भ आज दिखाई नहीं देता। तब वैज्ञानिक की दृष्टि में सब कुछ determined यानी निश्चित था। उस युग को वे Deterministic Age अर्थात् 'निश्चितवाद का युग' कहकर पुकारते थे। वे मानते थे कि विश्व की समस्त घटनाओं को गणित के समीकरणों में बाँधकर प्रस्तुत किया जा सकता है। पर आज ज्ञान की प्रभूत वृद्धि के कारण यह मान्यता नष्ट हो गयी है। हाइजनबर्ग द्वारा घोषित Principle of indeterminacy यानी 'अनिश्चित-वाद के सिद्धान्त' के बाद से विज्ञान के क्षेत्र में जो नये और अत्यन्त व्यापक आयाम खुले हैं, उनसे वैज्ञानिक हतप्रभ हो गये हैं और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते हुए विनयी बने हैं। आइस्टाइन विश्व की विराटता के प्रति सम्भ्रम और विनय के भाव में ज्ञान की सार्थकता देखते हैं। वे कहते हैं — "My religion consists of a humble admiration of the illimitable superior spirit who reveals himself in the slight details we are able to perceive with our frail and feeble minds, that deeply emotional conviction of the presence of a superior reasoning power, which is revealed in the incomprehensible universe, forms my idea of God." — अर्थात् 'जो असीम उत्कृष्ट आत्मा उन छोटी छोटी बातों में भी, जिन्हें हम अपने कमजोर और अस्थिर मन से देखने में समर्थ होते हैं, अपने को प्रकाशित करती है, उसके प्रति विनयपूर्ण प्रशसा का भाव पोषित करने में मेरा धर्म निहित है। अतीन्द्रिय जगत् में प्रकाशित होनेवाली एक उत्कृष्ट बौद्धिक शक्ति की विद्यमानता के प्रति गहरी भावनात्मक अवधारणा ही मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा है।''

तात्पर्य यह कि सच्चा ज्ञानी इस अनन्त ज्ञानमय जगत् के समक्ष अपने को बौना अनुभव करता है। इसलिए उसमें ज्ञान के दम्भ का दश नहीं रहता। यही ज्ञान की शोभा है। जैसे नारी की शोभा उसके वस्त्राभरणों से न हो, उसकी लज्जा से होती है, वैसे ही विद्या की शोभा विनय से होती है। कहा भी तो है — ''विद्या विनयेन शोभते''।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मन्मथनाथ गांगुली

(धन्य थे वे लोग, जो स्वामीजी के काल में जन्मे तथा उनका सामीप्य पाया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी तथा बँगला पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने के बाद 'Reminiscences of Swami Vivekananda' तथा 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थों में संकलित हुए हैं, जहाँ से हम इनका अनुवाद प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

स्वामीजी ने मुझसे कहा, "तू मुझसे जो कुछ भी जानना चाहता हो, पूछ ले।" मैं बोला, "इंग्लैण्ड में आपने जो 'माया' पर व्याख्यान दिये थे, उन्हें मैंने अनेकों बार पढ़ा है और उनसे मैं बड़ा प्रभावित हुआ हूँ, परन्तु माया क्या है, यह मैं अब तक समझ नहीं सका।" – "किसमें पढ़ा।" – "इण्डियन मिरर में।" – "देख, माया को समझना एक बात है और माया का अनुभव करना एक अलग बात है।"

मैंने कहा, "मैं आपसे माया का रहस्य समझना चाहता हूँ।" थोड़ी देर चुप रहने के बाद वे बोले, "उसे अभी रहने दे। और कुछ जानने की इच्छा हो तो पूछ।" मैंने कहा, "आपके समान ब्रह्मज्ञ पुरुष के समझाने से भी यदि माया न समझ सकूँ, तो मैं यही समझूँगा कि इस जन्म में मेरे द्वारा यह रहस्य जाना नहीं जा सकेगा।"

इसके बाद स्वामीजी माया का तात्पर्य समझाने लगे। काफी देर तक स्वामीजी धाराप्रवाह जो कुछ बोलते गये, उसे लिख रखने पर एक बहुमूल्य लेख बन जाता। उनकी बातें सुनते सुनते मुझे स्थूल इन्द्रिय-राज्य के परे एक अति सूक्ष्म सत्ता की अनुभूति होने लगी। मेरे नेत्रों के समक्ष घर-द्वार सब कुछ प्रबल वेग के साथ कम्पित होने लगा। अन्ततः सारा दृश्य जगत् एक महाशून्य में समा गया। इसके बाद पुनः मन के इस जगत् में लौट आने के बाद भी एक स्वप्न-सा आवेश छाया रहा।

इस अनुभूति के अगले ही क्षण मैंने अपने व्यक्तित्व में भी परिवर्तन का अनुभव किया। स्वामीजी के प्रति मेरा जो भय तथा संकोच का भाव था, वह भी मानो दूर हो गया। उसी समय मुझे बोध हो रहा था कि एक अखण्ड अविभाज्य सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। स्वामीजी, मठ आदि और मैं – सब कुछ मानो उसी के भीतर एक अंश के समान हैं।

तब मैंने कहा, "स्वामीजी, आप भी तो माया के भीतर ही हैं। आपका मठ, स्कूल, दीनसेवा – यह सब भी तो माया ही है। आपको यह सब करने की क्या आवश्यकता है?

स्वामीजी हँसते हुए बोले, "हाँ, तू ठीक ही कहता है। मैं भी माया के अन्तर्गत ही हूँ। परन्तु मैं माया के साथ खेल रहा हूँ। जिस क्षण इच्छा होगी, यह खेल छोड़ दूँगा। तुझे यदि माया के साथ खेलना अच्छा न लगे, तो तू पहाड़ पर चला जा। वहाँ किसी गुफा में बैठकर तपस्या में लग जा।"

उस दिन मैं कर्म करने का मूल सूत्र समझ गया – "भगवान को जानकर कर्म करने से वह लीला होती है, वह आनन्द का जीवन होता है। जब तक सत्य वस्तु का बोध नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य को त्याग और तपस्या की सहायता से विचार तथा ध्यान करने की आवश्यकता है।"

स्वामीजी उठकर खड़े हो गये। मैंने स्वयं को उनके चरणों समर्पित कर दिया और उसी के प्रतीक के रूप में साष्टांग प्रणाम किया और उन्होंने भी स्थिर-अविचल शिव-स्वरूप होकर उसे स्वीकार किया।

दोपहर के भोजन का समय हो चुका था। आसन तथा पत्तल बिछा दिये गये थे। सभी लोग स्वामीजी के आने की प्रतीक्षा में खड़े थे। फिर सभी परोसने की व्यवस्था में लग गये। इसी बीच स्वामीजी भण्डार की ओर जाकर एक सेव तथा छूरी माँग लाये। उन्होंने स्वयं ही सेव का छिलका उतारा और एक टुकड़ा काटकर मुझे दिया। इसके बाद एक टुकड़ा अपने मुख में डाला। इस प्रकार मुझे पहली बार उनके हाथ से प्रसाद मिला। उसी दिन मेरी समझ में आया कि प्रसाद मन की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है। जो तत्त्व-वस्तु अति गूढ़ रहस्य से आवृत्त है, उसे अधिकारी-व्यक्ति इच्छा मात्र से इस फल के समान ही प्रदान करने में सक्षम हैं, फिर उनका प्रेम तथा आशीष भी इस स्थूल अन्न के रूप में हमें चित्त-प्रसाद दे सकता है – इसे भी मैंने परम सत्य के रूप में समझा।

मुझे फल-प्रसाद मिला, इच्छामय स्वामीजी ने मानो मेरे मन की इच्छा ही पूर्ण की। तब मेरा लोभ और भी बढ़ा; मन में आया कि स्वामीजी का अन्न-प्रसाद मिल जाता, तो जीवन सार्थक हो जाता। भोजन की पंक्ति में स्वामीजी जहाँ बैठे थे, उसी के दूसरी ओर थोड़ी दूरी पर मैं बैठा था। स्वामीजी के पत्तल में ठाकुर का अन्न-प्रसाद दिया गया और उसके बाद एक ब्रह्मचारी उसे अन्य सभी के पत्तल में परोसने लगे। स्वामीजी ने एक अन्य ब्रह्मचारी को बुलाया और अपने पत्तल से थोड़ा-सा अन्न उसके हाथों में देते हुए बोले, "इसे मन्मथ को दे आ।" मुझे तत्काल ही इस बात का प्रमाण मिल गया कि ठाकुर के ये लीला-सहचर अन्तर्यामी हैं।

संशय ही विचारशील मन का स्वभाव है । और भावुक लोगों को श्रद्धा तथा भक्ति की सहायता से सहज ही भगवान के आशीर्वाद की प्राप्ति हो जाती है । मरा मन भावुक न होने के कारण उसमें संशय उठना ही उसका स्वभाव था । परन्तु उस प्रसाद के फलस्वरूप मेरा संशयात्मक मन शान्त हो गया और मै निष्कपट भाव से मन-ही-मन उन्हें आत्मसमर्पण करके निश्चिन्त हो गया ।

दोपहर को मध्याह्न-भोजन के बाद सभी लोग थोड़ा विश्राम किया करते थे । स्वामीजी ने भी अपने कमरे में प्रवेश किया । परन्तु उनके पास विश्राम करने का समय न था । उन दिनों वे मठ की नियमावली लिखाने में व्यस्त थे । वे मानो समझ गये थे कि उनका शरीर अब अधिक दिन नहीं रहेगा । उनकी एक ऐसी विधिबद्ध नियमावली बना जाने की इच्छा थी, जिसके आधार पर उनकी अनुपस्थिति में भी मठ का परिचालन होता रहे । उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से देख लिया था कि मठ तथा मिशन दीर्घ काल तक श्रीरामकृष्ण के भावों का प्रसार करते रहेंगे । उन्हीं भावों को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए जिस सुदृढ़ नींव की आवश्यकता थी, उसी के अनुरूप कुछ युवक भी उन्हें मिल गये थे । फिर भविष्य किन भावों के अनुसार गतिशील होगा, इसका भी कुछ आभास उनके मन में उदित हुआ था और तदनुसार ही उन्होंने मठ की नियमावली बनायी थी ।

उस दिन मैं मठ में ही रह गया । अगले दिन प्रात:काल उठने के बाद जब सभी लोग स्वामीजी को प्रणाम करने गये, तो थोड़ी देर बाद मैं भी उनके पास जा पहुँचा । स्वामीजी अपने कमरे के बाहरी द्वार के पास खड़े थे । उनके दोनों नेत्र थोड़े फूले हुए थे, मानो वे भाव के नशे में विभोर हों । उनके मुख पर निरन्तर हास्य की छटा रहती थी । मैंने साष्टांग प्रणाम किया । लगा मानो साक्षात् ठाकुर ही खड़े हों । वे बोले, "जा, तू गंगा में एक डुबकी लगाकर आ; जल्दी आना ।"

वे कृपापूर्वक मंत्र देंगे, यह इसी का संकेत था । मैं दौड़कर चला गया और सचमुच केवल एक ही डुबकी लगाकर लौट आया । ठाकुर का भाव आये बिना वे दीक्षा नहीं देते थे । उन्होंने केवल कुछ लोगों को ही मंत्रदीक्षा प्रदान की थी । मेरे लिए वह अकल्पनीय सौभाग्य आ पहुँचा था ।

उनके कमरे में प्रविष्ट होकर मैंने देखा कि वे एक सोफे पर चित्त लेटे हुए हैं । अपना एक हाथ उन्होंने ढीला कर दिया है; वे बोले, "मुझे पकड़ । मेरा हाथ धरे रह ।" मैंने अपने दाहिने हाथ से उनके दांहिने हाथ की कलाई को पकड़ लिया और वही फर्श पर बैठ गया । मैंने देखा कि उनकी कलाई काफी मोटी है । उनका सिर लगभग मेरे ही समान था और मेरा शरीर काफी हृष्ट-पुष्ट थोड़े पहलवानी ढंग का था, मैं काफी खा भी लेता था, परन्तु मैंने देखा कि मुझे अपनी उँगलियों से उनके हाथ का दूसरा छोर नहीं मिला । वे दुर्बल हो गये थे, तथापि उनकी कलाई काफी चौड़ी थी । इसीलिए मैंने उन्हें पकड़ा तो जरूर, लेकिन बीच में थोड़ी-सी जगह रह गयी थी ।

स्वामीजी अपनी आँखें मूँदकर स्थिर हो गये । काफी समय बीत गया, मैं समझ नहीं सका कि कितना समझ चला गया है, क्योंकि क्रमश: मेरा मन भी आच्छन्न होता जा रहा था, स्थान-काल का माप विस्मृत हो गया । इसके बाद स्वामीजी सोफे से उतरकर गलीचे पर बैठे । मुझे भी सामने के एक अन्य गलीचे पर बैठने को कहकर वे बोले, "स्वप्न में तुझे माँ की कुमारी-मूर्ति का दर्शन हुआ है, अब से तू माँ की इस षोडशी-मूर्ति का ही ध्यान करना ।"

अपने इस स्वप्न की बात मैंने अन्य किसी को भी बतायी नहीं थी । मैंने सात कुमारी-मूर्तियाँ देखी थीं; उनमें से प्रत्येक के सिर पर स्वर्ण-मुकुट था, सभी मूर्तियाँ हिरण्मयी, ज्योतिर्मयी, सालंकार तथा परम सुन्दरी थीं । ये सभी एक एक कर मेरे सामने आयीं और बगल से होकर दूर चली गयीं ।

स्वामीजी कहने लगे, "इसके थोड़ी देर बाद तूने स्वप्न में हाथ में त्रिशूल लिये महादेव को देखा था । उन्होंने तुझे यह ... मंत्र दिया था । तब से तू इसी का जप करता है ।"

प्रथम स्वप्न के कई वर्ष बाद मुझे स्वप्न में वही मंत्र मिला था और मैं उसी का जप भी करता था । परन्तु एकमात्र मुझे छोड़कर दूसरा कोई भी इस बात को नहीं जानता था । स्वामीजी की बातें सुनकर मैं अत्यन्त विस्मित हुआ । जैसे हम लोग दर्पण में मुख देख पाते हैं, स्वामीजी ठीक उसी प्रकार दूसरों के मन देख पाते थे । जो ऐसे अन्तर्यामी हैं, उन्हें मैं भगवान छोड़ और क्या कहूँगा?

इसके बाद उन्होंने मुझसे कहा, "अब तेरा मंत्र यह ... है ।" उच्च स्वर में वह बीजमंत्र तीन बार मुझे सुनाने के बाद उन्होंने मुझसे कहा, "अब से तेरी इष्टमूर्ति यह ... है ।" अपने मनश्चक्षुओं से मुझे वह मूर्ति दिखाई दी । इसके बाद उन्होंने दीक्षा तथा साधना के क्रम के विषय में कुछ उपदेश दिये, जो नितान्त व्यक्तिगत हैं । गुरुपूजा का मंत्र तथा न्यास-स्थान दिखाते हुए उन्होंने कहा, "मानस प्रणाम के बाद गुरु की स्पष्ट मूर्ति का ध्यान करना चाहिए । इसके लिए सहस्रार ही उत्कृष्ट स्थान है । इसके बाद इष्टमंत्र का जप करते हुए हृदय में इष्टमूर्ति का ध्यान करना चाहिए । पहले चरणों से मानस-पूजा आरम्भ की जाती है । वैसे ध्यान गम्भीर हो जाने पर हाथ-पाँव आदि कुछ भी नहीं रह जाते । जब तक मूर्ति का चिन्तन रहता है, तब तक निर्विकल्प समाधि नहीं होती । परन्तु एक के बाद एक को पकड़कर चलना पड़ता है, अन्यथा काफी लम्बा समय लग सकता है ।"

दीक्षा के अन्त में उन्होंने कहा, "मेरे पास बैठकर जप तथा ध्यान कर। कार्य की चाहे जितनी भी व्यस्तता क्यों न हो, हर दिन कम-से-कम थोड़े समय के लिए इसे अवश्य करना।"

उन दिनों स्वामीजी के मँझले भाई महेन्द्रनाथ दत्त बीच बीच में मठ आया करते थे। स्वामीजी जैसे अपने गुरुभाइयों के साथ हृदय खोलकर आनन्द किया करते थे, महिम बाबू के साथ भी मैंने उन्हें काफी कुछ वैसा ही करते देखा है। वे श्वेत वस्त्र – सामान्यत: धोती और कुर्ता पहना करते थे। उनके शरीर का रंग उज्ज्वल श्याम वर्ण था। स्वामीजी का रंग किसी अन्य भाई को नहीं मिला था। परन्तु शरीर का गठन सभी भाइयों का एक समान ही था। महेन्द्र बाबू के अंग-प्रत्यंग का स्वामीजी के साथ काफी साम्य था। उनकी भी स्मरण-शक्ति असाधारण थी। उनके दोनों नेत्र थोड़े छोटे थे, परन्तु उनके नेत्र बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति से प्रदीप्त थे। स्वामीजी के गुरुभाइयों के साथ वे मित्रवत् व्यवहार करते और स्वामीजी के शिष्यों के साथ भी बातचीत में कोई कमी नहीं रखते थे।

एक दिन स्वामीजी ने मुझसे कहा, "देख, तू दो नावों में पाँव मत रख। जो करना है, एक ही कर।" विवाह करके गृहस्थी करना, नहीं तो संन्यास लेना – इन दोनों में से उन्होंने मुझे कोई एक चुन लेने को कहा। मुझे आगा-पीछा करते देखकर वे बोले, "कोई जल्दी नहीं है, परन्तु मन को स्थिर कर ले।" इसके एक वर्ष बाद मेरा विवाह हुआ।

उनके देहत्याग के कुछ महीनों पूर्व ही मैंने उनका अन्तिम बार दर्शन किया था। अपनी दीक्षा तथा १९०२ ई. के आरम्भ तक की अवधि में मैं अनेकों बार बेलूड़ मठ गया। चूँकि उन दिनों की घटनावली मैंने तत्काल लिखकर नहीं रखी, अब उनकी निश्चित तिथि आदि बता पाना असम्भव है, तथापि मैंने उनसे जो बातें सुनी थीं, उनमें से कुछ को मैं यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा।

एक दिन उन्होंने कहा, "यह शरीर अब कर्म करने के उपयुक्त नहीं होगा। इसे छोड़कर फिर नया शरीर धारण करके आना होगा। अब भी अनेक कार्य बाकी रह गये हैं।"

एक अन्य दिन उन्होंने भावविभोर होकर उन्होंने कहा, "मैं मुक्ति नहीं चाहता। जब तक सभी जीवों की मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक मुझे बारम्बार आना होगा।"

उन दिनों चीन की आन्तरिक अवस्था बड़ी खराब हो चुकी थी। पश्चिम के शक्तिशाली देशों ने आपस में चीन का बँटवारा करके शोषण की नीति अपनायी थी। जापान भी उन्हीं के दल में सम्मिलित हो गया था। उस समय मैंने स्वामीजी से पूछा, "इतना पुराना यह सभ्य देश – अब क्या समाप्त हो जाएगा?" स्वामीजी थोड़ी देर मौन रहे और फिर बोले, "मैं देख रहा हूँ कि एक विशाल हथिनी के पेट में एक बच्चा है। उस बच्चे का जन्म हुआ, परन्तु वह एक सिंहशावक था। यह बच्चा बड़ा होगा और तब नये चीन का निर्माण होगा।"

भारत के विषय में उन्होंने कहा था, "अगले पचास वर्षों के भीतर ही भारत स्वाधीन होगा। परन्तु जिस तरह आम तौर पर देश स्वाधीन हुआ करते हैं, वैसा नहीं होगा। बीस वर्षों के भीतर ही एक महायुद्ध होगा। पाश्चात्य देश यदि जड़वाद का त्याग नहीं करते, तो पुन: युद्ध होना अवश्यम्भावी है। स्वाधीन भारत क्रमश: पाश्चात्यों का भौतिकतावाद अपना लेगा। नवीन भारत अपने प्राचीन ऐहिक गौरव को म्लान कर देगा। अमेरिका आदि देश धीरे धीरे अध्यात्मवादी होंगे। वे लोग जड़वाद के शिखर तक पहुँचकर समझ गए हैं कि भौतिक वस्तुएँ शान्ति नहीं दे सकतीं।"

स्वामीजी के अनेक चित्र उपलब्ध हैं और उनके द्वारा उनके बारे में कुछ कुछ धारणा बनायी जा सकती है, परन्तु मनुष्य को प्रत्यक्ष देखना एक बात है और उसे चित्र में देखना अन्य बात है। एक वाक्य में कहें तो ऐसे व्यक्ति प्राय: देखने में नही आते। उन्हें देखने पर लगता कि उन्हें देखता ही रहूँ! उनका चाल-चलन आदि सब कुछ सुन्दर था। जीवन में मैंने अनेक अच्छे अच्छे साधु-संन्यासी देखे हैं। उनमें से किसी किसी में अलौकिक शक्तियाँ भी थीं। वाराणसी के 'त्रैलंग स्वामी', इलाहाबाद के 'शाहजी' और कानपुर के 'नागा बाबा' – ये तीन जन विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु स्वामीजी के समान आकर्षण अन्यत्र कहीं भी महसूस नहीं हुआ। और उनके समान नेत्र भी कहीं देखने को नहीं मिले।

स्वामीजी का वर्ण उन दिनों खूब गोरा था। पाँव की ओर का हिस्सा विशेष गोरा था। उनकी हथेली तथा पाँव के तलवों का वर्ण रक्तिम था। बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) खूब गोरे थे। महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) का वर्ण भी स्वामीजी की अपेक्षा गोरा था, परन्तु स्वामीजी के वर्ण में एक ऐसा ओज था कि उनका गोरापन तथा सौन्दर्य और भी अधिक खिल उठता था। सहोदर भाइयों में भी स्वामीजी का ही वर्ण सर्वाधिक उज्ज्वल था।

जिन लोगों ने स्वामीजी की माँ को देखा है, उन्हें पता है कि स्वामीजी के सभी भाइयों को काफी कुछ अपनी माता की ही मुखाकृति प्राप्त हुई थी। स्वामीजी ने अपने जिस शारीरिक गठन को (अपने ही मुख से) मंगोल बताया है, वह सभी भाइयों में प्रस्फुटित हुआ है, परन्तु स्वामीजी के जबड़े तथा ठोढ़ी थोड़ी अधिक मात्रा में ही दृढ़ता-व्यंजक थे। उनके दोनों नेत्र उनकी माँ के ही समान थे, तो भी स्वामीजी के नेत्रों में जो विशेषता थी, उसे मुख से नहीं बताया जा सकता। कभी स्थिर, कभी गम्भीर, कभी चंचल – उनके नेत्रों से विभिन्न भाव व्यक्त हुआ करते थे। केवल नेत्र ही क्यो, उनके पूरे मुखमण्डल तथा अंग-प्रत्यंग से मन के ये भाव व्यक्त हुआ करते थे।

वे जब जो बात या भाव व्यक्त करते, लगता कि उस भाव के अतिरिक्त बाकी सभी भाव उनके मन से लुप्त हो गये हैं। इस कारण उनकी उक्तियाँ उद्धृत करके आपात-विरोधी भाव दिखाये जा सकते हैं। जिस स्थान पर, जिसको, जो बात उन्होने कही है, उसे समझे बिना केवल उनकी उक्तियों को उठाने पर उनका ठीक ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता। कहते हैं कि कभी कभी वे 'मुण्डा-मुण्डी' कहकर वैष्णवों की निन्दा करते थे, परन्तु वैष्णव-भाव को वे स्वयं परम श्रद्धा के भाव से देखते थे। वे केवल कुछ लोगों के व्याभिचार की ही निन्दा किया करते थे। तंत्र के वामाचार की भी वे काफी निन्दा करते थे। फिर किसी के तंत्र की निन्दा करने पर वे यह भी प्रमाणित कर डालते कि वाममार्ग भी उच्चतम सिद्धि का सोपान है। इस कारण उनकी बातों का तात्पर्य समझने के लिए उनके अपने हृदय के भीतर के गहन अनुभूति-राज्य को छोड़ देने पर कुछ समझा नही जा सकेगा।

वे जब जिस विषय पर बोलते, तो वे भाव मानो उनके अस्वस्थ शरीर में भी सजीव भाव से प्रवाहित होते रहते थे। हमने सुना है कि उनके भाव का आधिक्य ही उनके अकाल देहावसान का एक कारण है, परन्तु प्रधान कारण उनकी अपूर्व वक्तृत्व शक्ति थी। कहते हैं कि वे व्याख्यान देते समय श्रोताओं का मन समष्टि रूप से आकृष्ट करके अपनी विराट् सत्ता से जोड़ लेते। ज्यों ज्यों उनका मन ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर भावराज्य में उठता, त्यों त्यों श्रोताओं को भी उसी भाव का अनुभव होता रहता। स्वामीजी कहा करते थे कि इससे उनकी प्राण-शक्ति का अत्यधिक क्षय हुआ करता था। यही करते करते उनका शरीर टूटा था।

उनकी ऊँचाई लगभग पाँच फीट नौ इंच थी। शरीर का गठन बलिष्ठ तथा छाती चौड़ी थी, परन्तु उनके हाथ-पाँव खूब नरम थे। उनकी हथेली के उभरे हुए स्थान (mounts) खूब पुष्ट थे और रेखाएँ गहरी तथा लाल थीं। बृहस्पति तथा शनि के समान ही शुक्र तथा चन्द्र का स्थान भी उभरा हुआ था। शुक्र-बन्धन (Girdle of Venus) स्पष्ट था। उनका हाथ चौड़ा था – हाथ की कलाई भी इतनी थी और सीना भी इतना था। अस्थियों के जोड़ खूब सुदृढ़ थे। कभी वे कुश्ती लड़ा करते थे – शरीर पर एक बलिष्ठ दृढ़ भाव की छाप थी। परन्तु जिसे पहलवानी शरीर कहते हैं, वैसा नहीं था। बल्कि उनके बाजू तथा अंगुलियाँ सूंड़ के समान पतली होती गयी तथा चिकनी थीं। पाँव से कमर तक का हिस्सा और दोनों हाथ लम्बे – आजानुलम्बित थे! उनके नाखून लालिमा लिए तथा उनके अग्रभाग चतुष्कोण आकृति के थे।

एक बार वे ट्रेन से जा रहे थे। एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी। कानाई महाराज (बाद में स्वामी निर्भयानन्द) ने आकर उनकी खोज-खबर ली। एक मुसलमान फेरीवाला भुने हुए चने बेच रहा था। स्वामीजी जिस डिब्बे में थे, उसी के सामने से होकर वह बारम्बार आना-जाना कर रहा था। स्वामीजी ने सेवक ब्रह्मचारी से कहा, "भुने हुए चने खाना बड़ा अच्छा है; बड़ी पौष्टिक चीज है।" स्वामीजी का मनोभाव समझ ब्रह्मचारी ने उसे बुलाकर एक ठोंगा खरीद लिया। उस चीज की कीमत शायद एक पैसे रही होगी, परन्तु स्वामीजी उसकी कुछ सहायता करना चाहते हैं, ऐसा सोचकर ब्रह्मचारी ने उसे चार आने दे दिए। स्वामीजी ने उन्हें बुलाकर पूछा, "क्यों रे, कितने पैसे दिए?" ब्रह्मचारी ने कहा, "चार आने।" वे बोल उठे, "अरे, इतने से उसका क्या होगा? जा, एक रुपया दे आ। उसके घर में बहू है, बाल-बच्चे हैं।" थोड़ी देर बाद वे पुन: बोले, "अहा, लगता है आज उसकी ज्यादा कमाई नहीं हुई! इसीलिए देख न, वह फर्स्ट-सेकेण्ड क्लास के सामने ही फेरी लगा रहा है।" चने केवल खरीदे भर गए, स्वामीजी ने उन्हें चखकर भी नहीं देखा।

यही उनकी विशेषता थी। वे जब जो भी सोचते, उसकी अनेक गहराई तक चले जाते। हम सोचते हैं कि उस वस्तु का कितना मूल्य देना उचित था – एक पैसा या दो पैसा! ठीक है, चार पैसे दे दो! उसकी जगह चार आने देना तो हमें यथेष्ट लगता। परन्तु स्वामीजी सोच रहे हैं – अहा! उसे कितना अभाव है, उसके कितने आश्रित है! कम-से-कम एक दिन तो उन सभी को भर पेट खाने को मिल जाय।

दीन-दुखियों पर दया करने का भाव एक अलग चीज है। यहाँ वैसी बात नहीं है। वे जिस किसी को भी सामने देखते, उसकी सारी पृष्ठभूमि उनके मन में उदित हो जाती। यह उनकी स्वभावसिद्ध क्षमता थी। दूसरी ओर उनका मन कोमल था, अत्यन्त स्नेहपरायण था। इसीलिए वे लोगों के दुख में दुखी और व्यथा में सहानुभूतिशील हो जाते थे। उनके प्राण का यह 'अहा' उन्हें कितना व्यथित पीड़ित कर डालता था, यह केवल उनके सेवकगण ही समझ पाते थे।

कोई रोग में औषधि नहीं पा रहा है, थोड़ी-सी सेवा-यत्न के अभाव में कष्ट उठा रहा है – उनके लिए जिनके प्राणों में टीस उठती, उन्हें वे हृदय से आशीर्वाद देते। यह भाव केवल उन्हीं में रही हो, ऐसी बात नहीं, परन्तु उनके भीतर इसकी अभिव्यक्ति काफी अधिक देखने में आती थी। स्वामी अखण्डानन्द में इस दरिद्र-नारायण की सेवा का भाव खूब प्रबल था। स्वामी विज्ञानानन्द में भी यह भाव प्रस्फुटित था, परन्तु वे अपने भावों को खूब दबाये रखते थे। उन्हें देखकर सहसा समझ में नहीं आता था कि उनका अन्त:करण कितना स्नेह तथा माधुर्य से परिपूर्ण था! बाहर से वे बहुधा कठोर प्रतीत होते थे। उनके अन्तिम दिनों में उनमें यह स्नेह-प्रेम का भाव खूब दिखाई देता था। वे अपनी अयाचित करुणा की धारा से सबको अभिषिक्त कर गये हैं। ❖**(आगामी अंक में जारी)**❖

माँ के सान्निध्य में (६०)

श्रीमती सुशीला मजुमदार

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे है। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

थोड़ी देर बाद ही पत्तल बिछा दिये गये। माँ बोलीं, "चलो, प्रसाद खा लो।" माँ के पीछे पीछे खाने के कमरे में पहुँचने पर उन्होंने कहा, "मेरी ओर मुख करके सामने की पंक्ति में बैठो।" माँ ने भात में मक्खन मिलाकर तीन कौर अपने मुख में डालने के बाद ही मुझसे कहा, "प्रसाद लोगी? हाथ पसारो।" दाहिना हाथ बढ़ाते ही माँ बोली, "इस प्रकार क्या प्रसाद लिया जाता है? दोनों हाथ फैलाकर लो।" मेरे दोनो हाथ फैलाने पर माँ ने सारा मक्खन से सना हुआ भात मेरे हाथ में दबाते हुए कहा, "सिर से छुलाकर खा डालो।" मैं तो अवाक् रह गयी और बोली, "माँ, मैं तो कायस्थ हूँ; आपने तो मुझे खाते खाते छू लिया है। अब आपका खाना कैसे होगा?" माँ ने कहा, "तुम लोगों के साथ मेरा जाति का विचार कैसा? तुम लोग तो मेरी ही सन्तान हो। प्रसाद को खा डालो।" तब मैं लज्जित होकर प्रसाद खाने लगी। माँ भी बड़ी प्रसन्नतापूर्वक खाने तथा बातें करने लगीं। बीच बीच में वे पूछ लेतीं कि मुझे क्या चाहिए।

माँ – क्यों जी, तुम्हारे अंचल में तीर्थ नहीं हैं?

मैं – नही माँ, तीर्थ कहाँ हैं! मैंने तो नहीं देखे। परन्तु एक स्नान है, उसे ब्रह्मपुत्र-स्नान कहते हैं।

माँ – हाँ, यह बात तो मैंने सुनी है। अच्छा, इस बार मुझे भी ले जाना; तुम्हारा अंचल देख आऊँगी और मेरा तीर्थ भी हो जायेगा।

मैं – माँ, पूर्वी बंगाल का भी क्या ऐसा सौभाग्य होगा?

माँ – क्यों नहीं होगा? वहाँ भी तो ठाकुर के अनेक भक्त हैं। नरेन गया है, शरत् गया है, और भी उनमें से कई गये हैं। वहाँ के लोग ठाकुर से प्रेम करते हैं, वहाँ मैं क्यों नहीं जाऊँगी?

प्रसाद में चने की दाल, दो प्रकार की सब्जियाँ और चटनी थी।

माँ – पाँव में आलता क्यों नहीं लगाती?

मैं – हमारी ओर आलता लगाने की प्रथा नहीं है; केवल शंख की चूड़ियाँ और सिन्दूर धारण करने से ही लोग सुहागन कहते हैं।

माँ – सो होगा; इस अंचल में तो शंख की चूड़ियाँ और सिन्दूर तो शौक के चलते धारण किए जाते है, लोहे की चूड़ियाँ तथा आलता ही सुहागन के लक्षण माने जाते हैं।

माँ को दूध, एक आम तथा एक मिठाई दी गयी थी। माँ ने उन्हें एक साथ सान लिया और उसमें से थोड़ा-सा खाकर बोलीं, "लड़के (नी...) के लिए छोड़ देती हूँ।" अब हाथ धोने की बारी आयी। मेरे पत्तल उठाते ही लक्ष्मी दीदी ने जल्दी से मेरा पत्तल पकड़ लिया। मैं देनेवाली नहीं थी और वे भी छोड़नेवाली न थीं। माँ खड़ी होकर बोलीं, "लक्ष्मी को ही लेने दो। तुम आयु में सबसे बड़ी हो, इनके रहते तुम क्यों उठाती हो?" इस पर मुझे बाध्य होकर छोड़ देना पड़ा। माँ के साथ नल के पास जाते ही उन्होंने बाल्टी से एक लोटा पानी निकालकर कहा, "हाथ-मुँह धो लो।" मै तो घबड़ा गयी! बोली, "माँ, मुझसे यह नहीं हो सकेगा।" माँ ने कहा, "क्यों नही हो सकेगा? मेरी बात मानकर चलने से ही तुम लोगों का कल्याण होगा। चलो, जल्दी धो डालो, ये लोग पीछे खड़ी हैं। लोटे को सिर से छुला लो न!" हारकर माँ की बात ही माननी पड़ी। मुझे जाते देखकर माँ बोलीं, "यह क्या! पाँव नहीं धोये?" मैंने कहा,"बाद में धोऊँगी।" माँ बोलीं, "नहीं, नहीं, आओ, पानी देती हूँ।" अब मैं माँ के पीछे जाकर बोली, "माँ, मुझसे यह सब नहीं होगा।" माँ ने कहा, "क्यों, क्या हुआ है? थोड़ा-सा पानी सिर से लगा लो। मेरी बात मानने से तुम लोगों का मंगल होगा।" आखिरकार वैसा ही करने के बाद, माँ के आदेश पर मैं उनके पीछे पीछे उनके कमरे की ओर चली।

कमरे में प्रवेश करते ही माँ स्तम्भित होकर खड़ी हो गयीं और थोड़ी देर बाद बोल उठीं, "ओ... , यह तुमने क्या किया? लड़का आकर क्या खायेगा?" मैने देखा कि नी... के लिए वे जो प्रसाद छोड़ आयी थीं, उसी को एक भक्त-महिला आनन्दपूर्वक खाते हुए कह रही हैं, "सब उन्हीं का लड़का खायेगा और हम सूखकर मरेंगी!" मुझे इस पर बड़ी हँसी आयी। बाद में लक्ष्मी दीदी और अन्य महिलाएँ भी हँसने लगीं। मेरी तो हँसी ही नहीं रुक रही थी। परन्तु माँ विशेष चिन्तित होकर खड़ी रहीं। बाद में उन्होंने किसी को यह पूछने

भेजा कि रसोईघर बन्द हो गया है या नहीं और यदि न हुआ हो, तो क्या क्या बचा है । यह सुनकर की भात, दाल और सब्जी बची है, माँ ने कहा, "ठीक है, थोड़ा-सा यहाँ दे जाने को कहो ।" रसोइये ब्राह्मण द्वारा एक थाली में उसे दे जाने पर माँ ने सब एक साथ मिला लिया और थोड़ा-सा अपने मुख में डालने के बाद उसे ढँककर रखते हुए बोलीं, "लड़के के लिए रख दिया ।" मैं पीछे खड़ी खड़ी सोच रही थी कि उन्होंने किस प्रकार दो बार खाया! मैं और भी सोच रही थी कि किस प्रकार उनकी थोड़ी-सी सेवा करूँ । उनसे पानी लेकर मेरा हाथ-मुँह तथा पाँव धोना हुआ था, तो भी मैं उनकी कोई सेवा नहीं कर सकी थी । मैं माँ के पीछे चली जा रही थी । मन्दिर में पहुँचकर माँ ने मुझसे कहा, "किवाड़ के ऊपर मेरा गमछा पड़ा है । उसे ले आओ और मेरे पाँव पोंछ दो ।" यह सुनकर मैं आनन्द से विह्वल हो उठी । मेरे वैसा करने पर माँ बोलीं, "अच्छा, मैं तख्त पर बैठती हूँ, तुम अच्छी तरह मेरे पाँव के तलवे पोंछ दो ।" मैं माँ के चरणों को पोंछते पोंछते अपने सिर से लगाने लगी । माँ ने थोड़ा हँसकर कहा, "अच्छा, अब रहने दो ।"

लक्ष्मी दीदी पान लेकर आयीं और हँसते हँसते बोलीं, "धन्य औरत हो तुम, माँ ने स्वयं सेवा लेकर तुम पर कृपा की । लो, एक पान खाओ ।" आँखें भर आने के कारण मैं पान देख नहीं पा रही थी । माँ ने पान उठाकर मुझे दिया और कहा, "चटाई को फर्श पर लगाकर उस पर दरी बिछा दो और तीन तकिये रख दो ।" बिस्तर लग जाने पर माँ लेट गयीं । मेरे बैठकर उनके पाँवों में हाथ फिराते ही माँ ने कहा, "अब मेरे पास आकर लेट जाओ ।" मुझे संकुचित होते देखकर वे बोलीं, "मेरे तकिये पर सिर रखकर सोओ ।" मैंने कहा, "नहीं माँ, नींद में कहीं आपको पाँव न लग जाय, मैं नहीं सोऊँगी ।" माँ बोलीं, "यह क्या जी? मैं कहती हूँ, तुम लेट जाओ ।" मरती क्या न करती, आखिरकार माँ का आदेश मानना ही पड़ा । माँ ने कहा, "तुम्हें देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ, जैसे कि बहुत दिनों के बाद ससुराल से पुत्री के लौटने पर माँ को आनन्द होता है । अच्छा, तुम कब लौटोगी?" मैं बोली, "आज शाम को ही जाऊँगी माँ, अपनी इस भिखारिन पुत्री को याद रखियेगा" – इतना कहकर मैं रोने लगी । माँ ने कहा, "राम राम! ऐसा क्यों कहती हो बेटी? तुम मेरी राजरानी पुत्री हो । तुम्हें मैंने स्वयं ही जाकर दीक्षा दी है । तुम्हें खेद करने की आवश्यकता नहीं । तुम्हारा भला-बुरा सब मैं देखूँगी, इसके लिए तुम बिल्कुल भी चिन्ता मत करो ।"

अपराह्न के चार बजे राधू स्कूल से लौटी । उसका खाना-पीना हो जाने के बाद माँ ने उससे कहा, "आ, मैं तेरे केश बाँध दूँ ।" राधू बोली, "नहीं, मैं स्वयं ही बाँधूँगी ।" माँ ने हाथ में कंघी लिए ज्योंही उसके सिर का स्पर्श किया, त्योंही राधू उन्हें कंघी से मारने लगी । माँ ने कहा, "पगली बच्ची है, बताओ तो इसका क्या करूँ!" योगेन-माँ ने आकर माँ को प्रणाम किया । राधू माँ को मार रही है, यह देखकर वे बोलीं, "यह कैसी बात! राधू हमारी माँ को क्यों मारेगी? मैं उसे मार डालूँगी ।" इस पर भी राधू छोड़ नहीं रही थी । तब माँ ने कहा, "अब शरत् को बुलाती हूँ और तकलीफ सही नहीं जाती ।" योगेन-माँ द्वारा पुकारने पर पूजनीय शरत् महाराज नीचे के कमरे से बाहर आकर कहने लगे, "ओ राधू, माँ को मत मार ।" उनकी आवाज सुनते ही राधू जल्दी से खिसककर बैठ गई । कुसुम दीदी बोली, "आओ, मैं बाँध देती हूँ ।" राधू भी शान्त बच्ची के समान उनके पास जा बैठी । उसी समय राधू की माँ ने आकर कहा, "देखो जी, तुम्हारा एक लड़का कुछ लेकर आया है । यदि कपड़े लाया होगा, तो उससे मैं अपनी मच्छरदानी का चँदोवा बनाऊँगी ।" सचमुच ही नी... फल, मिठाई तथा वस्त्र लेकर आया था । उसके प्रणाम करते ही माँ ने कहा, "अहा, कपड़ा अच्छा है, मिठाइयाँ और फल भी अच्छे हैं । ओ गोलाप, यह सब उठाकर रख दो, ठाकुर के जागने पर उन्हें भोग लगाऊँगी । अहा, लड़के का मुख सूख गया है । जरा हाथ-मुँह धोकर प्रसाद खा लो, बेटा । तुम्हें लम्बी आयु मिले और भक्ति हो । परन्तु तुम्हें विवाह करना होगा ।" नी... प्रणाम करके नीचे चला गया । गोलाप-माँ भी प्रसाद की थाली लेकर नीचे चली गयीं । राधू की माँ हठ करने लगी, "मुझे दो कपड़े दे दो न, मैं मच्छरदानी का चँदोवा बनाऊँगी ।" माँ ने कहा, "यह भला कैसे हो सकता है? लड़के के मन में दुःख होगा ।" इसके बाद माँ कुसुम दीदी से बोलीं, "एक कपड़ा मुझे दे दो, पहनूँगी ।" योगेन-माँ ने कहा, "इनका भाग्य देखो! ये लोग कौन हैं? एक दिन में आकर ही इतनी कृपा पा गए! बेटी, तुम धन्य हो, तुम्हें प्रणाम करने की इच्छा हो रही है ।" मैं तो उनकी बात सुनकर घबड़ा गयी । माँ बोलीं, "ये लोग पूर्वी बंगाल के निवासी हैं, इनमें बड़ा विश्वास होता है । इन्हें देखने से कल्याण होता है ।" मैंने गमछे से माँ के पाँव दुबारा पोंछ दिये । माँ कपड़े पहनने के बाद आसन पर बैठकर ठाकुर से कहने लगीं, "ठाकुर, इनका मंगल करो । ये लोग तुम्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करते हैं; सात समुद्र और तेरह नदियाँ पार करके मेरे पास आये हैं ।" इसके बाद माँ मुझे साथ लेकर बैठीं और कहने लगीं, "कुछ पूछना है क्या?"

मैं – माँ, छोटी छोटी विधवा लड़कियों को मछली खाते देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । हमारे अंचल में तो इस प्रकार मछली नहीं खाने देते, समाज में विरोध होता है ।

माँ – जानती हो? यह सब देशाचार और लोकाचार है ।

हमारे अंचल में छोटी विधवाओं को मछली खाने तथा गहने-कपड़े पहनने की छूट है । उनमें भी इच्छा रहती है न! नहीं तो चोरी चोरी खायेंगी । जब वे समझ लेंगी कि यह सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप नहीं है, तो छोड़ देंगी ।''

मैं – माँ, भोग की आकांक्षा क्या जाती है?

माँ – नहीं बेटी, ठीक ही कहती हो । तो भी बड़ी होने पर लोगों को देखकर लज्जा होती है, झगड़े-विवाद के समय भी दूसरों के ताने सुनने पड़ते हैं; इसीलिए वे खुद ही सँभालकर चलती हैं ।

मैं – अच्छा माँ, ब्राह्मण की पुत्री होकर भी आपने दो बार भात खाया, मुख को जूठा किया!

माँ – कहाँ जी, मैंने कब दो बार खाया?

मैं – यही जो बच्चे के लिए प्रसाद करते समय ।

माँ – बच्चों के कल्याण के लिए मैं सब कुछ कर सकती हूँ । इससे कोई दोष नहीं होता । और यदि प्रसाद हो, तो पाँच बार खाने में भी कोई दोष नहीं होता । प्रसाद किसी वस्तु में नहीं गिना जाता । इन सब छोटी-मोटी बातों को लेकर मन को विचलित मत करना; इससे ठाकुर का विस्मरण हो जाता है । कोई कुछ भी कहे, ठाकुर का स्मरण करके जो हितकर समझना, वही करना । ठाकुर कहते थे, 'लोगों को कीट के समान समझना ।' इसका मतलब यह नहीं कि ऐसा उन्होंने सबके बारे में कहा है, बल्कि जो निन्दक तथा हीन संस्कार के लोग हैं, उन्हीं के बारे में कहा है ।

घर जाने का समय हो गया । गाड़ी आकर खड़ी थी । माँ सजल नेत्रों से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं, ''फिर आना ।'' मेरी लौटने की इच्छा नहीं हो रही थी । मैं माँ के दोनों पाँव पकड़कर रोने लगी । माँ ने कहा, ''रोओ मत बेटी, मैं तो तुम्हीं लोगों की हूँ । फिर आना ।'' माँ का मेरा यही प्रथम तथा अन्तिम दर्शन था । माँ का आशीर्वाद तथा उनकी स्नेहमयी सान्त्वना-वाणी मेरे जीवन का आश्रय बना हुआ है ।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण के धर्मविषयक प्रयोग

रामशरण गौरहा

सेवानिवृत्त प्राध्यापक, इ. गां. कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर (म. प्र.)

विज्ञान निरीक्षण, परीक्षण तथा प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित है । प्रयोगशाला में शोधरत वैज्ञानिक को ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, अत: वह बड़े विश्वास तथा साहसपूर्वक घोषणा करता है कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नही है और उस पर श्रद्धा रखना कोरी कल्पना या अन्धविश्वास है, और उसकी अनुभूति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

श्रीरामकृष्ण ऐसे महामानव थे, जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं किया । किसी वैज्ञानिक की भाँति उन्होंने पूर्व के ईश्वरद्रष्टा ऋषियों से प्राप्त सिद्धान्त को अस्थायी रूप से स्वीकार तो कर लिया, परन्तु उसके सत्यापन हेतु कठोर परिश्रम भी किया । ''महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?'' – स्वामी विवेकानन्द द्वारा पूछे गये इस सीधे प्रश्न के उत्तर में वे अपने दर्शन एवं अनुभवों के आधार पर ही दृढ़तापूर्वक कह सके थे, ''हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है ।''

अपनी साधना के दौरान भी श्रीरामकृष्ण ने पूर्णत: प्रयोगात्मक प्रणाली अपनायी थी, ''जिस प्रतिमा की वे पूजा कर रहे थे, वह क्या है; वह काले पत्थर की केवल एक सुन्दर मूर्ति है या फिर जगन्माता जीवन्त तथा प्राणवान है? असीम भगवत्प्रेम की सूचक अपनी उस दिव्य धृष्टता के साथ श्रीरामकृष्ण ने जानना चाहा कि जगदम्बा श्वास-प्रश्वास भी लेती है या नहीं – और अपना हाथ उनकी नासिका के सामने कर दिया । उन्हें प्रमाण मिल गया था । श्रीरामकृष्ण ने बताया था, ''मैंने सचमुच उनके निःश्वास को अपने हाथों पर अनुभव किया ।''

शास्त्रज्ञ पण्डितों ने कई बार आकर श्रीरामकृष्ण को बताया कि उन्होंने शास्त्रों में जो कुछ पढ़ा है, उसका सत्यापन वे उनकी अनुभूतियों में पाते हैं, दूसरे शब्दों में श्रीरामकृष्ण के जीवन में धर्म मानो एक प्रयोगशाला में परीक्षित तथा सत्यापित हो रहा था । उनकी अद्वैत-वेदान्त साधना किसी विशेषज्ञ प्रशिक्षक के मार्गदर्शन में किये कठिन प्रयोग जैसा था । इस कठिन साधना में वे शीघ्र ही सफल होकर अपने गुरुदेव को अचम्भे में डाल देते हैं । यह प्रयोग सम्पन्न हुआ कलकत्ते के निकट स्थित दक्षिणेश्वर के एक छोटे से कमरे में । वह कक्ष आज भी विद्यमान है । कठोर गुरु तोतापुरी ने उसका द्वार बन्द करके शिष्य को समस्त दृश्य पदार्थों से मन को हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करने को कहा । लेकिन प्रथम प्रयास में श्रीरामकृष्ण वैसा नहीं कर सके । वे अन्य सभी जागतिक पदार्थों से मन को हटा पाने पर भी आनन्दमयी माँ जगदम्बा, जिसकी पूजा उन्होंने सम्पूर्ण भक्ति प्रेम के साथ इतने वर्षों तक की थी, उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष बारम्बार भासने लगी । तोतापुरी अपने शिष्य की इस असफलता पर कुपित हो उठे । कमरे में

पड़े कांच के टुकड़े को उठाकर अपने शिष्य के भ्रूमध्य में चुभोते हुए उन्होंने कहा, "इस बिन्दु पर अपने मन को केन्द्रित करो।" यह इलाज कारगर सिद्ध हुआ। बाद में श्रीरामकृष्ण ने बताया कि इसके बाद जगदम्बा की मूर्ति उदित होने पर उनहोंने उसे ज्ञान-खड्ग से काट डाला। तब उनका मन ईश्वर की साकार भावना की चेतना से मुक्त होकर निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया। इस अवस्था में उन्होंने वेदान्त के ब्रह्मात्मैकत्व सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व के महान् समीकरण 'अयमात्मा ब्रह्म' की अनुभूति की। यह समाधि तीन दिन तक बनी रही। इसे देखकर गुरु को विश्वास करना पड़ा और उनके आश्चर्य की सीमा न रही, क्योंकि उन्हें स्वयं इस अनुभूति को प्राप्त करने में चालीस वर्ष लग गये थे।

श्रीरामकृष्ण अब संन्यासी हो चुके थे। जिन दिनों वे इन प्रयोगों में डूबे हुए थे, उनकी युवा पत्नी सारदामणि भी दक्षिणेश्वर पहुँची। ईश्वरानुसन्धान की उन्मत्तता में श्रीरामकृष्ण उन्हें प्राय: भूल चुके थे। गुरु तोतापुरी जी ने कहा कि अपनी पत्नी के साथ अविचलित भाव से रह जाने पर ही यह सिद्ध होगा कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली है। अत: श्रीरामकृष्ण अपने जीवन के सबसे कठिन प्रयोग रूप मानो छूरे की धार पर अग्रसर हुए और इस परीक्षा में भी बेदाग उत्तीर्ण हुए। श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी एक ही शय्या पर महीनों सोये और वे एक संन्यासी एवं सारदा एक पवित्र कुमारी बनी रही। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपनी पत्नी को निकट ही सोते देखकर अपने मन से कहा, "रे मन, इसी का नाम नारी-शरीर है, लोग इसे परम भोग्य वस्तु समझते है तथा निरन्तर भोग करने के लिये लालायित रहते है, पर इसे ग्रहण करने से देह में ही आबद्ध हो जाना पड़ता है; सच्चिदानन्द ईश्वर की प्राप्ति नही होती। रे मन, अपनी भावनाओं को छिपाने का प्रयत्न मत कर, सच बता – तू इसे ग्रहण करना चाहता है या ईश्वर को।" इस प्रश्न के उत्तर में उनका पवित्र मन ऐसी गहरी समाधि में डूब गया, जो सारी रात बनी रही।

भैरवी ब्राह्मणी नामक एक असाधारण संन्यासिनी के मार्गदर्शन में श्रीरामकृष्ण देव की तांत्रिक साधना विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में एक अत्यद्भुत घटना है। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "कठिन-से-कठिन साधन, जिनके अनुष्ठान करने में अधिकांश साधक भ्रष्ट हो जाते है, माँ जगदम्बा की कृपा से मैं उन सभी साधनों में उत्तीर्ण हुआ था। एक दिन मैंने देखा कि ब्राह्मणी रात में एक पूर्ण युवती को बुला लायी है तथा पूजन का आयोजन करने के पश्चात् उसे विवस्त्र करके देवी के आसन पर बिठाकर मुझसे कह रही है, 'बाबा, देवी भाव से इनका पूजन करो।' पूजन समाप्त होने के बाद उसने कहा, 'बाबा, साक्षात् जगदम्बा-ज्ञान से इनकी गोद में बैठकर तन्मयता के साथ जप करो।' तब मैं आतंकित होकर रोता हुआ श्री जगदम्बा से कहने लगा, 'माँ, अपने शरणागत बालक को तू यह कैसी आज्ञा दे रही है, तेरी इस दुर्बल सन्तान में ऐसा दुःसाहस करने की सामर्थ्य कहाँ है? ऐसा कहते ही दिव्य शक्ति से मेरा हृदय पूर्ण हो उठा तथा देवाविष्ट की भाँति मैं क्या कर रहा हूँ, यह ठीक से समझे बिना ही मंत्रोच्चारण करता हुआ मैं उस युवती की गोद में बैठकर समाधिस्थ हो गया। तदनन्तर मेरी बाह्य चेतना लौटने पर ब्राह्मणी बोली, 'बाबा, क्रिया पूर्ण हो चुकी है। दूसरे लोग इस अवस्था में धैर्यपूर्वक कुछ देर तक जप करने के बाद विरत हो जाते हैं, तुम एकदम शरीर की सुध भूलकर समाधिस्थ हो गये।' यह सुनकर मैं आश्वस्त हुआ तथा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के निमित्त कृतज्ञतापूर्ण हृदय से माँ श्री जगदम्बा को बारम्बार प्रणाम करने लगा।"

श्रीरामकृष्ण के धर्म और ईश्वर-सम्बन्धी प्रयोग हिन्दू शास्त्रों की सीमाओं में ही आबद्ध नहीं रहे। हिन्दू धर्म द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सत्यों के सन्तोषप्रद प्रमाण प्राप्त करने के बाद वे अन्य धर्मों द्वारा बतायी गयी पद्धतियों तथा साधनाओं द्वारा ईश्वर-प्राप्ति के प्रयोग में लग गये। आत्म-जगत् के इस साहसिक अभियान में हमें एक ऐसी वैज्ञानिक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है, जो सामान्यत: धर्माचार्यों अथवा साधकों के जीवन में कम दीख पड़ता है। उन्होंने इस्लाम की विधिवत् दीक्षा ली तथा तदनुरूप अनुभूतियाँ प्राप्त की। फिर ईसा मसीह ने सहज रूप में उन्हें दर्शन दिया। इन सभी मतों, धर्मों की प्रायोगिक रूप से साधना करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सब मत ही उनके रास्ते हैं और आन्तरिक भक्ति के साथ किसी एक मत का आश्रय लेकर उनके पास पहुँचा जा सकता है। इस तरह उनके सभी आध्यात्मिक उपदेश जीवन की प्रयोगशाला में किये गये निरीक्षण, प्रयोग तथा उनसे प्राप्त परिणामों पर आधारित थे।

श्रीरामकृष्णदेव भारतीय प्रज्ञा के पुरातन पथ पर ही चले थे और यहाँ की मूलभूत परम्परा के अनुसार गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के बाद शिष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं ही आत्मा या ईश्वर का दर्शन पाने हेतु अन्तर्मुखी हो जाय। व्यक्तिगत अनुभूति, सत्य का एक सुसंगत एवं विश्वसनीय प्रमाण माना जाता है। यह आध्यात्मिक प्रत्यक्षानुभूति वैदिक काल से अब तक के हजारों वर्षों के दौरान भारतीय आध्यात्मिक खोज एवं गवेषणा का एक सबल वैशिष्ट्य और भारत में महान् सन्तों की परम्परा को बनाये रखने में यह भी एक कारण रहा है। यह परम्परा जो भारत में कभी लुप्त हुई नहीं थी, श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव से अत्यन्त सबल हो उठी है।

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖

आचार्य रामानुज (८)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

३. यादवप्रकाश

सर्व-सुलक्षण-सम्पन्न श्री रामानुज ने जब अपनी आयु के १६वें वर्ष में पदार्पण किया, तो उनके पिता श्रीमत् आसुरी केशवाचार्य ने उन्हें विवाह-शृंखला में आबद्ध करने का निश्चय किया। शीघ्र ही एक सर्वांग सुन्दरी कन्या के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। पिता, माता, सगे-सम्बन्धियों तथा पड़ोसियों के आनन्द की सीमा न रही। दीन-दरिद्र भरपेट भोजन पाकर निहाल हो गये। पूरे सप्ताह भर उत्सव चलता रहा। नववधू का मुख देखकर देवी कान्तिमती तथा उनके स्वामी ने परम सन्तोष का बोध किया। एक महीने तक सभी इसी प्रकार सांसारिक आनन्द का उपभोग करते रहे, उसी समय विधाता के चिरन्तन नियमानुसार सुख के बाद दु:ख का आगमन हुआ। वृद्ध केशवाचार्य ने भीषण रोग से आक्रान्त होकर शीघ्र ही अपनी इहलीला का संवरण कर लिया। आचार्य-परिवार मेघाच्छन्न पूर्णिमा की रात के समान शोक से म्लान हो उठा। विपुल आनन्द के बीच दु:ख का आघात और भी तीव्रतर प्रतीत हुआ। कविगुरु वाल्मीकि के हृदय को पीड़ा देनेवाली क्रौंचवधू के समान ही कान्तिमती बिल्कुल अधीर हो उठीं। पितृहीन रामानुज भी कुछ काल के लिये शोकविह्वल हो पड़े, परन्तु प्रज्ञा के सहारे उन्होंने धीरे धीरे अपने को सँभालने का प्रयास किया। वे बाहर किंचित शान्त होकर अपनी माता को सान्त्वना प्रदान करने लगे।

शीघ्र ही सम्बन्धियों की सहायता से पिता की अन्त्येष्टि सम्पन्न कर वे घर लौटे। यथासमय श्राद्ध आदि भी पूरा हुआ। तदुपरान्त वे कुछ दिन श्री पेरुम्बुदुर में जाकर रहे, मगर उनकी माता तथा उन्हें वहाँ शान्ति न मिलने पर उन्होंने कांचीपुर जाने का निश्चय किया। तदनुसार रामानुज ने उक्त नगरी में एक मकान का निर्माण कराया और सपरिवार वहीं जाकर निवास करने लगे। कालक्रम से उनका शोकावेग शान्त हुआ।

उन दिनों कांची नगरी में यादवप्रकाश नामक एक सुविख्यात अद्वैतवादी आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ निवास करते थे। उनके पाण्डित्य पर सभी मुग्ध हो जाते। अदम्य विविदिषा के कारण रामानुज भी शीघ्र उन्हीं के शिष्य हो गये। नए शिष्य का रूप-लावण्य तथा मुखमण्डल पर प्रतिभा की छाप देखकर यादवप्रकाश बड़े ही प्रसन्न हुए। अति अल्प काल में ही रामानुज उनके प्रधान शिष्य के रूप में परिगणित होने लगे और उनके अतिशय प्रीतिभाजन हुए।

परन्तु यह प्रीति अधिक काल नहीं टिक सकी। यादवप्रकाश अद्वितीय प्रतिभाशाली थे। उनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद आज भी 'यादवीय सिद्धान्त' के नाम से विख्यात है। वे एक प्रकार के शुद्धाद्वैतवादी थे, परन्तु ईश्वर का साकार रूप नहीं मानते थे। उनके मतानुसार जगत् ईश्वर की परिवर्तनशील, नित्य-नश्वर विराट् मूर्ति है। इसके पीछे जो देश-काल-निमित्त से अतीत, अक्षर सच्चिदानन्द सत्ता है, वही उसकी स्वराट् सत्ता है और वही स्वीकार करने तथा जानने के योग्य है। पूज्यपाद शंकराचार्य के समान वे विराट् को माया अथवा रज्जु को सर्प का विवर्त, एक में अन्य का बोध नहीं कहते थे। जगत् उनकी दृष्टि में मरीचिका के समान निराधार तथा पूर्णत: महत्वहीन नहीं, बल्कि ईश्वर का ही एक नित्य परिवर्तनशील स्वरूप लगता था। सतत अस्थिर होने के कारण ही यह हेय है तथा सतत स्थिर होने के कारण स्वराट् स्वरूप ग्रहणीय है। विराट्दर्शी आत्मा जीव है और स्वराट् आत्मा ही ब्रह्म है।

भक्तिमय रामानुज दास्यभाव की प्रतिमूर्ति थे। अत: यादवीय सिद्धान्त उनके लिये कभी प्रीतिकर नहीं हो सकता था। परन्तु गुरु की गौरवरक्षा के लिये वे कभी उनकी शिक्षा का दोष बताने का दुस्साहस नहीं करते थे। इच्छा होने पर भी वे उसका दमन कर डालते थे।

एक दिन प्रात:काल का पाठ समाप्त हो जाने पर जब शिष्यगण मध्याह्न का भोजन करने अपने अपने घर चले गए, तो यादवप्रकाश ने अपने परमप्रिय शिष्य रामानुज को अपने शरीर पर तेल मल देने का आदेश दिया। उस समय भी एक शिष्य पाठ के दुरूह अंशों को समझने के लिये गुरुदेव से प्रश्न कर रहे थे। वे छान्दोग्य उपनिषद् का अध्ययन करते थे। उसके प्रथम अध्याय के छठें खण्ड के सातवें मंत्र के पूर्वांश में जो 'कप्यासम्' शब्द आया है, उसी का ठीक ठीक अर्थ शिष्य को हृदयंगम नहीं हो पा रहा था। वह मंत्रांश इस प्रकार है – **'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी।'**

यादव पूज्यपाद शंकराचार्य के मतानुसार 'कप्यासम्' शब्द

का अर्थ बन्दर के अधोभाग से लगाकर मंत्रांश की इस प्रकार व्याख्या करने लगे, "उन स्वर्णिम पुरुष के दोनों नेत्र बन्दर के अधोदेश के सदृश लाल कमल के तुल्य है।" यह असंगत हीन-उपमायुक्त व्याख्या सुनकर तैलमर्दन में निरत रामानुज का कोमल व भक्तिपूर्ण हृदय विगलित हुआ और नेत्रों से अश्रु के रूप में अग्निशिखा के समान प्रवाहित होकर यादव के जाँघ पर गिर पड़ा। ज्वलन्त अंगारे के समान तप्त अश्रुधारा के स्पर्श से यादव चौंक गये और दृष्टि उठाकर देखने पर उनके लिये समझना बाकी नहीं रहा कि यह अंगारा नहीं, अपितु उनके प्रिय शिष्य रामानुज की उष्ण अश्रुधारा है। जब उन्होंने विस्मयपूर्वक शिष्य से दु:ख का कारण पूछा, तो रामानुज बोले, "भगवन्, आपके समान महानुभाव के मुख से ऐसी असंगत व्याख्या सुनकर मैं मर्माहत हुआ हूँ। सर्वमंगलमय, अखिल सौन्दर्य के आधार, सच्चिदानन्दमय विग्रह परात्पर भगवान के साथ बन्दर के अधोप्रदेश की तुलना कितना असम्भाव्य व पापजनक लगता है, यह किस मुख से कहूँ? आपके समान प्राज्ञ के मुखारविन्द से ऐसा दुरर्थ सुनने की आशा मुझे कभी न थी।"

यादव ने कहा, "वत्स, तुम्हारी दाम्भिकता से मेरे हृदय को असीम पीड़ा हुई है। ठीक है, क्या तुम इससे उत्तम व्याख्या कर सकोगे?" रामानुज बोले, "आपके आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव हो सकता है।" किंचित् घृणासूचक हास्य के साथ गुरु ने कहा, "अच्छी बात है, तुम अपना नया अर्थ बताओ, थोड़ा हम भी सुनें। लगता है कि तुम शंकराचार्य के भी ऊपर उठ जाना चाहते हो।" रामानुज अति विनयपूर्वक फिर कहने लगे, "प्रभो, आपके आशीर्वाद से सब सम्भव है। 'कप्यासम्' शब्द से यदि बन्दर के अधोभाग का अर्थ न लगाकर **कं जलं पिबतीति कपि: सूर्य:** और अस् धातु विकसनार्थक होने के कारण 'विकसित' ऐसा अर्थ सिद्ध करने से अच्छा होगा। इससे पूरे 'कप्यासम्' शब्द का अर्थ 'सूर्य द्वारा प्रस्फुटित' निकलता है। अत: उक्त मंत्रांश का अर्थ इस प्रकार होगा, "उन स्वर्णिम सवितृमण्डल-मध्यवर्ती पुरुष के दोनों नेत्र सूर्य द्वारा प्रस्फुटित पद्म के समान सुन्दर हैं।"

ऐसा अर्थ सुन यादव ने कहा, "यह मुख्यार्थ नहीं, गौणार्थ मात्र है। अस्तु, इसमें तुम्हारा विशेष व्याख्या-कौशल है।"

इस घटना के बाद शिक्षक ने रामानुज को एक महा द्वैतवादी भगवद्भक्त मान लिया और उनके प्रति उनके लगाव में भी किंचित न्यूनता आ गई।

एक अन्य दिन तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१) के '**सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' मंत्र का अर्थ बताते समय यादवप्रकाश ने ब्रह्म को सत्य-स्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप कहकर व्याख्या की, तो श्री रामानुज इसका प्रतिवाद करते हुए बोले, "ब्रह्म सत्यधर्म विशिष्ट हैं, असत्य-धर्मविशिष्ट नहीं, ज्ञान ही उनका धर्म है अज्ञान नहीं और वे अनन्त हैं सान्त नहीं। वे सत्य, ज्ञान और अनन्त गुणों के गुणी हैं। इन्हें उनका स्वरूप कहना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है, वैसे ही जैसे कि देह मेरा है, मैं देह नहीं हूँ।" यह व्याख्या सुनकर अध्यापक रोषपूर्वक बोले, "रे धृष्ट बालक, यदि तू मेरी व्याख्या नहीं सुनना चाहता, तो फिर यहाँ आता ही क्यों है? अपने घर एक नयी पाठशाला क्यों नहीं खोल लेता?" फिर थोड़े शान्त होकर बोले, "तुम्हारी व्याख्या आचार्य शंकर या किसी अन्य पूर्व गुरु के मतानुरूप नहीं है। अत: आगे कभी ऐसी धृष्टता मत दिखाना।"

रामानुज स्वभाव से ही अतिविनम्र तथा गुरुभक्त थे। पाठ के दौरान वे यथासाध्य मौन धारण किये रहने का प्रयास करते थे। प्रतिवाद करना उनका बिल्कुल भी अभिप्रेत न था। परन्तु क्या करें, जब वे देखते कि अध्यापक की व्याख्या से सत्य का अवरोध हो रहा है, तो वे सत्यप्राणता के वशीभूत होकर अनिच्छा होते हुए भी उनका प्रतिवाद कर बैठते। यादव यद्यपि उनकी आपत्तियों को अन्य शिष्यों के समक्ष तुच्छ कहकर उड़ा देते थे, तथापि क्रमश: रामानुज के प्रति उनके मन में एक तरह की भीति उत्पन्न होने लगी। उन्होंने सोचा कि हो सकता है कि यह बालक भविष्य में अद्वैतमत का खण्डन कर द्वैतमत की स्थापना करे। इसके हाथ से कैसे छुटकारा पाया जाय? सनातन अद्वैतमत की रक्षा के लिये इसका प्राणनाश तक करना उचित है। वे अद्वैतमत के प्रति अगाध प्रीति के कारण ही इस पाशवी निष्कर्ष पर पहुँचे हों, ऐसी बात नहीं। प्रबल ईर्ष्या ही इसका कारण था। कवि का कहना है –

> **प्रकृति: खलु सा महीयस:**
> **सहते नान्य समुन्नतिं यथा।**[१]
> **अनुहुंकुरुते घनध्वनिं**
> **न तु गोमायुरुतानि केसरी॥**[२]

– "दूसरों की उन्नति सहन न करना ही बड़े लोगों का स्वभाव है, जैसे कि सिंह मेघों के गर्जन पर ही प्रतिनाद करता है, गीदड़ों के शोर पर नहीं।" वैसे यह सच्चे महात्मा का लक्षण नहीं है। वे तो '**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्**'[३] – निन्दा-स्तुति में समभाव रखनेवाले, मौन तथा जो मिले उसी में सन्तुष्ट रहते हैं। कोई भी उनका शत्रु-मित्र नहीं होता। वे सबके मंगल की कामना करते हैं। वे चिर सन्तुष्ट और सर्वत: पूर्ण होते हैं। कवि तो यहाँ लौकिक महात्माओं की बात कह रहे हैं, जिन्हें हम 'बड़े आदमी' की आख्या दिया करते हैं, जो तमोगुण के प्रभाव से सोचा करते हैं – '**कोऽन्योस्ति सदृशो मया** – मेरे समान दूसरा कौन है।"[४]

---

१. भारवीकृत किरातार्जुनीय, २/२१ (उत्तरार्ध)
२. माघकृत शिशुपालवध, १६/२५ (उत्तरार्ध)
३. गीता, १२/१९ ४. वही, १६/१५

यादवप्रकाश भी इसी प्रकार के 'बड़े आदमी' थे । अत: यदि उनके ईर्ष्यापूर्ण हृदय में रामानुज के वध की कामना हुई हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यद्यपि उन्होंने अपनी अतुल्य धीशक्ति की सहायता से वेदान्त के कूट तर्कों पर अधिकार कर लिया था, यद्यपि वे '**ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या**' – को सबके समक्ष स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर सकते थे, यद्यपि उनकी यशप्रभा पूरे कांचीपुर में व्याप्त थी, यद्यपि उनके शिष्य उन्हें शंकर की प्रतिमूर्ति मानकर पूजते थे, तथापि साधना के अभाव-दोष से उनका ज्ञान केवल शब्दों तक ही सीमित था; वे क्षुधा-पिपासा आदि वासनाओं के दासत्व से स्वयं को मुक्त करने में समर्थ नहीं हो सके थे ।

एक दिन यादव ने अन्य शिष्यों को एकान्त में बुलाकर कहा, ''देखो, तुम सभी मेरी व्याख्या में कोई दोष नहीं पाते, परन्तु यह धृष्ट रामानुज जब-तब मेरे अर्थों का प्रतिवाद करता रहता है । केवल बुद्धिमान होने से क्या होगा, उसका मन तो द्वैतवाद के पाखण्ड से परिपूर्ण है । इस पाखण्डी के हाथ से छुटकारा पाने का क्या उपाय हो सकता है?'' एक शिष्य ने कहा, ''उसे पाठशाला आने से मना कर देना ही काफी होगा ।'' इस पर दूसरे शिष्य ने प्रतिवाद करते हुए कहा, ''फिर तो गुरु महाशय को जो भय है, वही होगा अर्थात् रामानुज अपनी एक पाठशाला खोलकर द्वैतवाद का प्रचार करने लगेगा । पहले ही वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मंत्र की एक विस्तृत टीका लिखकर उसमें अद्वैतमत का खण्डन कर चुका है, क्या तुमने सुना नहीं?''

वास्तव में रामानुज तब तक उस मंत्र की विशद सुविस्तृत टीका लिखकर बुधमण्डली के अतिशय प्रिय हो चुके थे । थोड़ी देर इसी प्रकार वाद-विवाद के बाद सबने मिलकर निश्चित किया कि रामानुज के प्राणनाश के सिवा दूसरा उपाय नहीं है । यह निश्चित हो जाने के बाद अब इस बात पर मंत्रणा होने लगी कि कैसे किसी के जाने बिना यह कार्य सहज ही सम्पन्न हो जाय । अन्त में यादव ने कहा, ''चलो, हम सभी कलुषनाशिनी गंगा में स्नानकर अपना सारा मालिन्य दूर करने तीर्थयात्रा पर जायेंगे । तुम लोग रामानुज से भी यह बात कहो और विशेष प्रयास करो कि वह भी हमारे साथ चले । इस तीर्थयात्रा का उद्देश्य और कुछ नहीं, बस उस पाखण्डी के हाथ से छुटकारा पाना है । रास्ते में उसकी इहलीला समाप्त करने के बाद भागीरथी में स्नान करके अनायास ही इस पाप के फल से बच जायेंगे । और अद्वैतमत का काँटा भी निकल जायेगा ।'' अध्यापक की युक्तिपूर्ण बातें सुनकर शिष्यगण बड़े प्रसन्न हुए और तदनुसार वे रामानुज को भागीरथी-स्नान के पुण्य का लोभ दिखाने चल पड़े ।

हम पहले ही बता आए हैं कि रामानुज के गोविन्द नामक एक मौसेरे भाई थे । वे रामानुज को प्राणों से भी प्रिय मानते थे । जब आचार्य का परिवार श्रीपेरम्बुदुर से कांचीपुर में आकर निवास करने लगा, तो उनके साथ गोविन्द भी आकर उन्हीं के साथ रहते थे । वे रामानुज के समवयस्क थे और उन्हीं के साथ यादवप्रकाश की पाठशाला में अध्ययन कर रहे थे । बाकी छात्रों ने रामानुज को भागीरथी-यात्रा पर जाने को राजी कर लिया । अत: कहना न होगा कि गोविन्द भी अतीव आग्रह के साथ जाने को तैयार हुए ।

शुभ दिन-काल देखकर यादव अपनी शिष्य-मण्डली के साथ तीर्थ करने आर्यावर्त की ओर चल पड़े । पुत्र-बिछोह की असीम पीड़ा का बोध होने पर भी धर्मशील कान्तिमती अपने पुत्र के सत्कर्म अनुष्ठान में बाधक नहीं हुईं । कुछ दिन चलने के बाद यादव अपने शिष्यों के साथ विन्ध्याचल के पादप्रदेश में स्थित गोंडारण्य में पहुँचे । वहाँ लोगों का आवागमन इतना विरल था कि उसे निर्जन कहना ही उपयुक्त होगा । स्थान-काल की उपयुक्तता देखकर दुर्वृत्त अध्यापक ने अपने शिष्यों से उस नृशंस कार्य के सम्पादन हेतु तैयार हो जाने को कहा । गोविन्द को यह जानकारी मिल गई, परन्तु सरल स्वभाव रामानुज को इस षड्यंत्र का जरा-सा भी आभास नहीं मिला । क्या उनके निर्मल, स्नेहपूर्ण कोमल हृदय में कभी किसी भयंकर दानवोचित भाव को प्रश्रय मिल सकता था? पवित्र व्यक्ति सबको पवित्र ही समझता है ।

एक दिन रामानुज तथा गोविन्द पथ के किनारे एक सरोवर में पाँव धोने गये थे । वहीं गोविन्द ने एकान्त पाकर रामानुज को सब कुछ बता दिया । किस प्रकार ये नराधम तीर्थदर्शन के बहाने लाकर उनका वध करने को कटिबद्ध हैं, यह विशेष रूप से समझाने के बाद गोविन्द ने कहा, ''ये दुराचारी शीघ्र ही निर्जन वन में तुम्हें मार डालेंगे, अत: तुम पीछे जाकर कहीं छिप जाओ ।'' यह कहने के बाद गोविन्द जाकर अन्य शिष्यों में मिल गये । थोड़ी देर बाद यादवप्रकाश को पता चला कि रामानुज शिष्यों के बीच उपस्थित नहीं है । सब मिलकर उनकी खोज में लग गये । परन्तु उस निर्जन, वृक्ष-लताओं से परिपूर्ण घने वन के भीतर किसी को उनका कोई सुराग नहीं मिला । वे लोग उनका नाम लेकर उच्च स्वर में उन्हें चारों ओर पुकारने लगे, परन्तु उनका उत्तर नहीं मिला । अन्त में सभी यह समझकर बड़े आनन्दित हुए कि रामानुज अवश्य ही किसी हिंस्र जन्तु का शिकार हो गया है । गोविन्द को उनका सम्बन्धी जानकर केवल उसे दिखाने के लिये ही, वे लोग बाहर से शोक का दिखावा करने लगे । यादव अपने उपदेशों के द्वारा जीवन की असारता समझाने लगे और 'इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है' – कहकर गोविन्द को दिलासा देने लगे । ईर्ष्या मनुष्य को पशु से भी गया-बीता बना देती है, अध्यापक यादवप्रकाश का जीवन इसका एक सच्चा दृष्टान्त है ।

❖ (क्रमशः) ❖

कठिनाइयों पर विजय

स्वामी सत्यरूपानन्द

महात्मा गाँधी अफ्रीका से लौटकर भारत आये। उसके कुछ दिनों पश्चात् प्रथम विश्व युद्ध प्रारभ हो गया। उस समय अंगरेजों ने कहा कि आप हमारा साथ दीजिये तो युद्ध समाप्त होने पर हम भारत में आपको स्वायत्त शासन की सुविधायें प्रदान करेंगे। गाँधीजी ने उस समय अंगरेजों की बात मान ली। किन्तु युद्ध समाप्त होने पर सुविधायें देना तो दूर रहा अँगरेजों ने उल्टे रोलेट एक्ट का काला कानून भारत पर लाद दिया तथा भारत वासियों को दासता की जंजीरों में और अधिक जकड़ दिया। नागरिकों के सामान्य अधिकार भी छीन लिये। उनके मुँह बद कर दिये। चारों ओर निराशा छा गई।

किन्तु इन कठिनाइयों की घड़ी में गाँधीजी निराश नहीं हुए। उन्होंने सत्य और अहिंसा का आश्रय ले कर सत्याग्रह का आह्वान किया। उनके आह्वान पर देश जाग उठा। लाखों लोगों ने कमर कस कर इन कठिनाइयों का सामना किया। और यथा समय भारत स्वाधीन हुआ।

गाँधीजी की इस सफलता का रहस्य क्या था? इस सफलता का रहस्य था — वे कठिनाइयों से डरे नहीं। उन्होंने कठिनाइयों का सामना किया। जीवन सग्राम में विजय का, सफलता का यही मार्ग है कठिनाइयों का सामना करें।

किसके जीवन में कठिनाइयाँ नहीं आतीं? जीवन एक संग्राम है। इसमें कठिनाइयाँ तो आयेंगी ही। किन्तु कठिनाइयों से भाग कर कभी बचा नहीं जा सकता। उनसे भाग कर कभी जीवन सग्राम में विजय और सफलता नहीं पाई जा सकती। कठिनाइयों से भाग कर आज तक कोई व्यक्ति जीवन में विजयी और सफल नहीं हुआ है। संसार के सभी देशों में जितने भी बड़े बड़े महापुरुष हुए हैं वे इसी लिये बड़े हुए कि उन्होंने जीवन की चुनौतियों को स्वीकार किया। जीवन में आने वाली कठिनाइयों का सामना किया। उन पर विजय पायी। और तभी वे अपने लक्ष्य पर पहुँच सके तथा महान बने।

जब कभी हम कोई नया कार्य प्रारंभ करते हैं तो प्रारंभ में वह कठिन प्रतीत होता है। किन्तु यदि कठिनाइयों को देखकर हम घबड़ा जायेंगे, भयभीत हो जायेंगे तो जीवन की सामान्य बातें भी हमें कठिन लगने लगेंगी। छोटी छोटी कठिनाइयाँ भी हमें बड़ी लगने लगेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे भीतर की स्वाभाविक शक्तियाँ भी कुंठित हो जायेंगी। हमारी क्षमतायें और योग्यतायें व्यर्थ हो जायेंगी। तथा हम अकर्मण्य हो जायेंगे। हमारा जीवन ही दुखमय और असफल हो जायेगा।

अतः जब कभी हमारे जीवन में कठिनाइयाँ आयें तो उनसे भयभीत नहीं होना चाहिये। घबड़ाना नहीं चाहिये। बल्कि धैर्यपूर्वक उनका सामना करना चाहिये। कठिनाइयों की परीक्षा कर देखना चाहिये कि हम उसे कहाँ से पकड़ सकते हैं? कहाँ उस पर प्रहार कर उसे जीत सकते हैं। यदि हम इस प्रकार कठिनाई की परीक्षा करेंगे तो हम पायेंगे कठिनाई को जीतने का, उसे दूर करने का रास्ता हमें दीख पड़ रहा है। और तब यदि हम कमर कस कर कार्य में लग जाएँ। अध्यवसाय पूर्वक लगे रहें तो हम उन कठिनाइयों को अवश्य दूर कर सकेंगे तथा अपने लक्ष्य तक पहुँच कर सफल हो सकेंगे।

एक बात और। जीवन संग्राम में विभिन्न प्रकार की छोटी बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। उस समय हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हम सभी कठिनाइयों को एक साथ एक बार में एक झटके में दूर करने का प्रयत्न न करें। ऐसा करने पर हमें निराशा हाथ लगेगी। एक बार में एक कठिनाई को दूर करने पर दूसरी को दूर करना सहज हो जाता है। इस प्रकार रुक रुक कर हम अपनी सभी कठिनाइयों को दूर कर जीवन संग्राम में यशस्वी एवं विजयी हो सकते हैं।

यही है जीवन संग्राम में विजयी होने का, सफल होने का रहस्य। कठिनाइयों का सामना करें।

❖ ❖ ❖
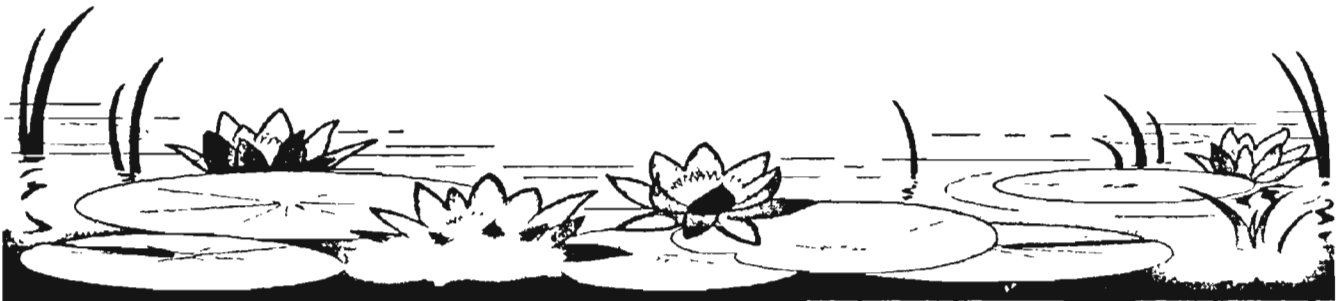
जीना सीखो (८)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

प्रयास ही श्रेष्ठ पूजा है

हमारे देश का सुप्रसिद्ध शास्त्र 'योगवाशिष्ठ' उद्यम के विषय में क्या कहता है, यह तुमने सुना है? – "यदि मनुष्य ने ठीक ठीक तथा सच्चे हृदय से प्रयास किया हो, तो इस संसार में कुछ भी अलभ्य नहीं है । किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर यदि कोई सच्चा प्रयास करे, तो उसे निश्चित रूप से सफलता मिलेगी । मनुष्य अपने जीवन में कुछ पाने की इच्छा करे, उसे प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहे, तो देर-सबेर वह अवश्य सफल होगा । परन्तु उसे अपने मार्ग पर अटल भाव के साथ बेहिचक चलना होगा ।"

इस जगत् में बहुत-से लोग अभाव तथा निर्धनता की गहराई से निकलकर सौभाग्य के शिखर तक पहुँच गये । केवल अपने भाग्य पर ही निरर्थक विश्वास रखनेवालों ने नहीं, अपितु अपने उद्यम पर निर्भर रहनेवाले बुद्धिमान लोगों ने ही कठिन तथा संकटपूर्ण परिस्थितियों पर विजय पाई । **जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू** – जो व्यक्ति किसी वस्तु के लिए हृदय से इच्छा करता है तथा उसे पाने के लिए पूरा प्रयास करता है, उसे निश्चय ही उसकी उपलब्धि होगी । किसी आलसी को जीवन में कोई जीत नहीं मिलती । हर मनुष्य को समझ लेना चाहिए कि वह स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है । जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता, उसे कोई दूसरा भी नहीं बचा सकता । निश्चित रूप से स्वप्रयास के द्वारा मनुष्य समस्त दुखद परिस्थितियों से उबर सकता है । अत: दृढ़ इच्छाशक्ति तथा आत्मश्रद्धा के साथ हर व्यक्ति को उचित मार्ग पर बढ़ना होगा । महा-साहसी, पराक्रमी तथा ज्ञानी लोगों ने कभी भाग्य की बाट नहीं जोही ।

"भाग्य बेकार की बात है, क्योंकि हम जिधर भी देखते हैं उधर ही अक्रमण्यता के नहीं, बल्कि परिश्रम तथा चेष्टा के ही फल देखते हैं । मृत देह इच्छाशक्ति के पूर्ण अभाव का द्योतक है और उससे कभी कुछ होते किसी ने नहीं सुना । भाग्य कुछ नही करता, यह महज एक कल्पना है, अपने आपमें इसका कोई अस्तित्व नहीं ।

"पूर्व काल में हमारे द्वारा किये गये भले तथा बुरे कर्मों के फल को ही भाग्य कहते हैं । मनुष्य के हाथ में केवल प्रयत्न करना है, उसी को अन्य लोग भाग्य कहते हैं । सफलता अन्तत: व्यक्ति की अपनी चेष्टा पर ही निर्भर करती है ।"

भाग्य या स्वाधीन इच्छा

हमारे देश में ऐसे भाग्यवादियों की कमी नहीं, जो प्रत्येक कार्य के पीछे अदृष्ट भाग्य का हाथ देखते हैं और कहते हैं कि हमारे कितने भी प्रयास से कोई अन्तर नहीं पड़ता । फिर ऐसे लोग भी हैं, जो मानव की स्वाधीन इच्छा को सर्वोपरि मानते हैं और कहते हैं कि स्वप्रयास से सब कुछ सम्भव है ।

कुछ लोगों की दृष्टि में मनुष्य परिस्थितियों का दास है । दूसरे कहते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व के बलबूते पर परिस्थितियों को बदल सकता है । कहते हैं कि उद्यम तथा भाग्य रथ के दो पहियों या कैंची की दो छुरियों के समान हैं । पर किसी कार्य में असफलता का कारण हम 'भाग्य का लिखा', 'ग्रहों का बुरा होना', या 'कर्मों के फल' बताते हैं । इन धारणाओं का दार्शनिक महत्व चाहे जो हो, परन्तु हम इस बात को नकार नहीं सकते कि अपने जीवन को उन्नत करने के लिए हमें ही प्रयास करना होगा । हमें हिम्मत और साहस के साथ आगे बढ़ना होगा, अपने प्रयासों में विश्वास रखकर संघर्ष करना होगा । एक कहावत है – मनुष्य अपने प्रयास से छह कदम चले, तो सातवाँ कदम ईश्वरीय कृपा का मिलता है । कार्य में उत्साह तथा अथक प्रयास के बिना कोई भी जीवन में सफल नहीं हुआ है ।

केवल हाथ पर हाथ धरे, भाग्य की प्रतीक्षा में बैठे रहने से क्या तुम कभी सफलता के लक्ष्य तक पहुँच सकते हो? ऐसा करके कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं । इससे तो मनुष्य कायर बन जाता है, नैतिक दृष्टि से बुराई के अधीन हो जाता है । लोग अपनी दुर्बलता के चलते गल्तियाँ करते हैं, परन्तु वे उनका दोष भाग्य या ग्रह-नक्षत्रों के सिर मढ़ देते हैं । ऐसा ही एक व्यक्ति अपनी असावधानी के कारण फिसलकर गिर पड़ा, परन्तु वह जमीन तथा अपने भाग्य को दोष देने लगा ।

हमारी सफलता के मार्ग में बाधा डालनेवाली यदि सचमुच ही भाग्य जैसी कोई वस्तु होती, तो हम अपने सच्चे संघर्ष के द्वारा तथा सबमें निहित आत्मा को जगाकर उसे निश्चय ही हटा देते । यदि भाग्य इतना ही शक्तिशाली होता, तो हम पुण्य-पाप या आत्मा की शक्ति की बातें न करते । मनुष्य काठ का टुकड़ा या मिट्टी से बनी हुई ईंट नहीं है ।

वह व्यक्ति अपने दु:खों के दलदल से बाहर नहीं निकल सकता, जो सर्वदा यही सोचता रहता है कि 'मैं तो अदृष्ट

भाग्य के अधीन हूँ; मेरे सारे कार्य भाग्यवश हुए हैं और मेरे कर्मों की जिम्मेदारी मुझ पर नहीं है।' मनुष्य अपने अज्ञान के चलते ही स्वयं को निर्बल तथा भाग्य के अधीन महसूस करता है। यह अज्ञान उसे क्रमश: पतन की ओर ही ले जाता है। वर्तमान का उपयोग करना मानो भाग्य पर विजय पाना है।

भाग्य धीर का साथ देता है

पिछले दिनों एक प्रसिद्ध खेल-पत्रिका द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में एक युवा छात्र ने १०,००० रुपयों का इनाम जीता। सभी उसके सौभाग्य पर चकित थे। सबने उसे बधाई दी। वह हमारे स्कूल का एक भूतपूर्व छात्र था। उसने मुझे बताया कि उसे इस इनाम की जरा भी आशा न थी। मित्रों ने कहा, "यह कितने सौभाग्य की बात है!" उसने भी स्वीकृति में सिर हिलाया। पर यह प्रतियोगिता चिट्ठी डाल कर निर्णय करने की नहीं थी। जब मित्र चले गये, तो उसे अकेला पाकर मैंने पूछा, "इस खेल-पत्रिका को तुम कब से पढ़ रहे हो? वह बोला, "जब मैं ६वीं कक्षा में था।" अब वह इण्टर पास कर चुका था। पिछले ६ वर्षों के दौरान उसने इस पत्रिका का हर अंक पढ़ा था। बचपन से ही क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं तथा उनसे सम्बन्धित खबरों में उसकी गहरी रुचि थी। जैसे अन्य बच्चे मिठाइयों की ओर दौड़ते, वैसे ही वह इस पत्रिका की ओर दौड़ता। उसे वह कई बार पूरा पढ़ डालता। सोचो कि इन छह वर्षों के दौरान उसने कितनी जानकारी एकत्र की। स्पर्धा में लाखों लोगों ने भाग लिया था, पर अपने प्रभूत ज्ञान के कारण ही उसे विजय मिली। उसने इनाम पाने को इसमें भाग नहीं लिया था, पर इनाम ने ही परम योग्य को पा लिया।

धैर्य का फल

यूनानी सुवक्ता देमोस्थेनीज ने दिखा दिया कि वक्तृत्व की शक्ति राजा से भी बड़ी थी। उसका जन्म ई.पू. ३८४ में हुआ था। ज्योतिषियों ने उसे सामान्य बताया। वह हकलाता था, दुर्बल था और प्राय: बीमार पड़ता। उसके सहपाठी कभी उसकी हँसी उड़ाते, तो कभी सहानुभूति दिखाते। उसके माता-पिता उसे बचपन में ही अनाथ छोड़कर चल बसे। चाचा ने उसकी सम्पत्ति हड़प ली। देमोस्थनीज ने उनके विरुद्ध न्यायालय में शिकायत की, पर कोई सुनवाई नहीं हुई। उसने देखा कि एक यूनानी वक्ता ने श्रोताओं को मुग्ध कर लिया है और अत्यन्त सम्माननीय बन गया है। अपने दु:ख तथा हताशा के बीच उसे भी महत्वपूर्ण बनने की तीव्र इच्छा हुई।

देमोस्थनीज ने एक प्रभावशाली वक्ता बनने का संकल्प कर लिया। किन्तु इसमें अनन्त कठिनाइयाँ थीं। हकलाने के कारण उसका गला बन्द हो जाता, कोई लम्बा वाक्य वह एक साथ बोल नहीं पाता। पर अथक अभ्यास से उसने कठिनाइयों को पार किया। एक चिकित्सक की सलाह पर वह अपनी जिह्वा पर गोलियाँ रख कर शब्दों का सही तथा उच्च स्वर में उच्चारण का अभ्यास करता। ऊँचे टीलों पर चढ़कर ढलानों से उतरते हुए वह लम्बी साँसें लेकर बिना रुके लम्बे वाक्य बोलने का अभ्यास करता। वह प्रतिदिन समुद्रतट पर खड़ा होकर लहरों की आवाज से भी ऊँची आवाज में भाषण देने का अभ्यास करता। वह प्रतिदिन १६ घण्टे एकान्त में विधि-शास्त्रों तथा यूनानी पुराणों का गहन अध्ययन करता। लोगों की संगति से बचने हेतु उसने अपना आधा सिर मुड़ा लिया और तहखाने में जा बैठा। प्रभावशाली वक्तृत्व की कला में निपुण होने के लिए वह एक बड़े दर्पण के सामने खड़ा होकर एकाकी अभ्यास करता। तीन वर्ष बाद वह ज्ञान का भण्डार लेकर बाहर आया। यूनानी राजा फिलिप ने कहा, "चाहे कोई सारा विश्व भी जीत ले, पर भाषण में वह देमोस्थनीज को नहीं हरा सकता।" अब वह एक शक्ति का स्वामी था।

देमोस्थोनीज का धैर्य तथा लगन अतुलनीय था। इसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली उसकी सफलता भी अतुल्य थी।

विदेश में पढ़ाई के दिनों में डॉ. अम्बेडकर अध्ययन में डूबे रहते थे। उनके जीवन में यह कथन चरितार्थ हुआ था – **ज्ञानातुराणां न सुखं न निद्रा** – ज्ञान की खोज करनेवालों को न सुख नसीब होता है, न नींद। उन्हें पता था कि वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही अपने घर से हजारों मील दूर आये हुए हैं। उन्होंने सोचा कि सुख के प्रलोभनों में समय नष्ट करने का अर्थ अपने कर्तव्य तथा देश की अवहेलना है। अत: वे सिनेमा तथा व्यर्थ ही नगर की सड़कों पर घूमने में समय नहीं गँवाते। उन्हें पढ़ने का बड़ा लोभ था, पुस्तकें देखते ही उनकी मानसिक तथा शारीरिक थकावट दूर हो जाती थी। वे विशेष योग्यता प्राप्त करने लन्दन गये थे। वे घण्टों पुस्तकालय में बैठे रहते, उसके बन्द होने तक अध्ययन में डूबे रहते। वे बड़े अल्पाहारी थे और अपना सारा समय ज्ञानार्जन में लगाया करते थे। उसकी ज्ञानक्षुधा बड़ी प्रबल थी। डॉ. जॉनसन का कहना है कि शक्ति के सहसा उपयोग से नहीं, बल्कि सतत दीर्घकालीन प्रयास से महान कार्य सम्पन्न किये जाते हैं।

कार्लायल कहते है, "कार्य को पूरा करने का दृढ़ संकल्प ही एक सबल मनुष्य की निर्बल से भिन्न पहचान बनाता है।"

एक लैटिन कहावत है – अविराम अभ्यास सभी कठिनाइयों को दूर भगा देता है।

योगवाशिष्ठ के मतानुसार इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो उचित तथा उत्साहपूर्ण प्रयास से प्राप्त न हो सके।

भारत की खोज में कोलम्बस ने अपने जलपोत को अज्ञात महासागर में आगे बढ़ाते हुए कितना साहस दिखाया होगा! जब वह अपने निर्धारित लक्ष्य पर नहीं पहुँच सका, तो उसके साथियों ने निराश होकर विद्रोह कर दिया और उसे समुद्र में

फेंकने को तैयार हो गये । कठिनाइयों के इस विशाल महा-सागर तथा अपने लोगों के विरोध के बीच भी उसने आशा नहीं छोड़ी । अनन्त साहस तथा आत्मविश्वास के साथ वह आगे बढ़ता गया और अन्त में उसे विजयश्री प्राप्त हुई ।

जार्ज स्टीवेन्सन को अपनी मशीन को सही बनाने में १५ वर्ष लगे । जेम्स वॉट को अपना इंजन को पूर्ण बनाने में ३० वर्ष लगे । क्यूरी दम्पति को रेडियम की खोज में वर्षों तक अलकतरे के मिक्षण को पिघलाना पड़ा । धैर्यपूर्वक अविराम प्रयास ही सफलता प्राप्त करनेवालों का एकमात्र रहस्य है ।

विद्युत्-बल्ब का अविष्कारक एडिसन ९०० बार अपने प्रयोग में असफल रहने के बावजूद धैर्यपूर्वक अपने कार्य में लगा रहा । जब उससे पूछा गया, "इतनी अफलताओं से तुम निराश नहीं हुए? इन असंख्य प्रयोगों से तुम ऊबे नहीं?" तो उसने उत्तर दिया, "नहीं, मैं ऊबा नहीं, सत्य और मिथ्या को जानने का प्रयास करते हुए, मुझे सन्तोष है कि ९०० भूलें करने के बाद मेरी सत्य की खोज सार्थक हुई ।"

न्यूटन ने अपने वर्षों की खोज के परिणाम लिखकर मेज पर रखे थे । एक जलती मोमबत्ती उसके कुत्ते से लगकर उन कागजों पर गिर पड़ी और सब कुछ जलकर राख में परिणत हो गया । न्यूटन बड़ा दु:खी हुआ, पर उसने हार नहीं मानी । उसने दुबारा सारे प्रयोग करने का संकल्प किया और दृढ़ इच्छाशक्ति के बल पर उन्हें पूरा करने में सफल हुआ ।

आयु तथा उपलब्धि के बीच कोई सम्बन्ध नहीं । कुछ लोगों को कम आयु में ही सफलता मिल जाती है, तो कुछ को युवावस्था या वृद्धावस्था में । पिट केवल २४ वर्ष की आयु में ही इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री बना, पर ग्लैडस्टोन ८३ वर्ष की आयु में वहाँ के प्रधानमन्त्री हुए । गेटे मात्र १० वर्ष का आयु में लिखने लगा, पर उसकी सर्वोत्तम रचना 'फॉस्ट' ८० वर्ष की आयु में प्रकाशित हुई । दोलेरज ने २० वर्ष की आयु में अपनी प्रसिद्ध कविता 'प्राचीन पोतचालक' (एनश्येण्ट मेरीनर) लिखी । लियोनार्डो द विन्सी ने ९९ वर्ष की आयु में 'अन्तिम भोज' (लास्ट सपर) नामक अपना प्रसिद्ध चित्र बनाया । केल्विन ने १८ वर्ष की आयु में ही वैज्ञानिक खोजें आरम्भ की, पर वह ८३ वर्ष का होकर ही कुतुबनुमा का उत्तम नमूना बना सका । सफलता के लिए क्या पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य अनिवार्य है? नहीं – मिल्टन अन्धा था, नेपोलियन को त्वचा का रोग था, जूलियस सीजर को मिर्गी थी, बीथोवन तथा बायरन बहरे थे, महान् वक्ता देमोस्थनीज हकलाता था ।

❖ (क्रमश:) ❖

(पृष्ठ ३४४ का शेषांश)

हमारा पहला कार्य यही है कि हम अपने पूर्वजों के बटोरे हुए धर्मरूपी अमोल रत्न जिन तहखानों में छिपे हुए हैं, उन्हें तोड़कर बाहर निकालें और सब में बाँट दें । यह कार्य सबसे पहले ब्राह्मणों को ही करना होगा । बंगाल में एक पुराना अन्धविश्वास है कि जिस गोखुरे साँप ने काटा हो, यदि वह स्वयं अपना विष खींच ले, तो रोगी जरूर बच जायगा । अतएव ब्राह्मणों को ही अपना विष खींच लेना होगा ।

ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ, ठहरो, जल्दी मत करो; ब्राह्मणों से लड़ने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले दिखा चुका हूँ कि तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो । तुम्हें आध्यात्मिकता अर्जित करने तथा संस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिन तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़कर मस्तिष्क, बल, साहस तथा क्रियाशीलता का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? समाचार-पत्रों में इन सब व्यर्थ वाद-विवादों और झगड़ों में शक्तिक्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते-झगड़ते न रहकर – जो कि पाप है – ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो । बस, तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा । तुम क्यों संस्कृत के पण्डित नहीं होते? भारत की सभी जातियों में संस्कृत शिक्षा का प्रचार करने के लिए क्यों नहीं तुम करोड़ों रुपये खर्च करते?

ऐ पिछड़ी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है; और यह लड़ना-झगड़ना तथा उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है । इससे कोई उपकार न होगा, इससे लड़ाई-झगड़े और बढ़ेंगे और यह हिन्दू जाति, जिसके दुर्भाग्यवश पहले ही से टुकड़े टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती रहेगी । जातियों में समता लाने के लिए एकमात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल तथा गौरव है । ❖ **(क्रमश:)** ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (८)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आवीर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

सिंह और लकड़बग्घा

एक दिन एक लकड़बग्घा एक चरवाहे के बाड़े से एक मेमना चुराकर ले जा रहा था । रास्ते में उसे एक सिंह मिला । सिंह ने उससे मेमने को छीन लिया । लकड़बग्घा थोड़ी देर के लिए तो स्तब्ध रह गया, परन्तु उसके बाद बोला, "यह बड़ी गलत बात है; तुमने अन्यायपूर्वक मेरी चीज छीन ली है ।" यह सुनकर सिंह ने थोड़ा हँसते हुए कहा, "तुम्हारी बातों से तो लगता है कि तुम यह मेमना चुराकर नहीं, बल्कि चरवाहे से उपहार के रूप में पाकर ले जा रहे थे ।"

बूढ़ा सिंह

अत्यन्त वृद्ध हो जाने के कारण एक बूढ़ा सिंह बड़ा दुर्बल हो गया था । एक दिन वह धरती पर लेटे हुए लम्बी लम्बी साँसें ले रहा था, तभी एक बनैला सूअर वहाँ आ पहुँचा । सिंह के साथ उस सूअर की घोर शत्रुता थी, परन्तु सिंह के प्रचण्ड बल के सामने उसकी एक नहीं चलती थी । परन्तु अब सिंह की यह दुरवस्था देखकर सूअर ने उस पर अपने दाँतों से बारम्बार प्रहार किया और फिर अपने रास्ते चल दिया । सिंह में हिलने-डुलने तक की क्षमता नहीं थी, अत: वह सूअर के दन्ताघात को चुपचाप सह गया ।

थोड़ी देर बाद एक साँड़ भी घूमता-घामता उधर आ निकला । उसकी भी सिंह के साथ दुश्मनी थी । सिंह को मरणासन्न जैसा पड़ा देखकर उसने भी उस पर सिंग से प्रहार किया और चला गया । सिंह इस अपमान को भी पचा गया ।

यह सब देखकर एक गधे ने सोचा, "जब सिंह में बल-विक्रम विद्यमान था, तब उसने हम सभी पर अत्याचार किया था । अब मौका पाकर सभी उससे अत्याचार का बदला ले रहे हैं । सूअर और साँड़ सिंह का अपमान करके चले गये, परन्तु सिंह उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका । मुझे भी जब मौका मिला है, तो भला हाथ से क्यों जाने दूँ!" इतना सोचकर वह सिंह के पास गया और उसके मुँह पर एक दुलत्ती झाड़ दी ।

यह तो अपमान की अति थी । इस पर सिंह खेद प्रगट करते हुए कहने लगा, "हाय, दुर्भाग्यवश मेरी यह कैसी दुर्दशा हो रही है! जो जानवर मुझे देखते ही भय से काँपने लगते थे, वे ही आज अनायास मेरा अपमान कर रहे हैं । बनैला सूअर और साँड़ तो खैर बलवान जन्तु हैं, उनका किया अपमान तो मुझसे थोड़ा-बहुत सहन हो गया; परन्तु सभी पशुओं में निकृष्टतम गधे ने मुझ पर जो लात चलायी, उससे तो मेरे लिए सौ बार मृत्यु भी अच्छी होती ।

यौवन, बल, सत्ता तथा धन के मद में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि ये सभी सदा के लिए नहीं, बल्कि क्षणभंगुर हैं ।

गड़ेरिया और भेंड़िया

एक गड़ेरिये ने एक भेंड़ को काटा और उसे पकाकर अपने परिवार के साथ खाते हुए आनन्द मना रहा था । उसी समय एक भेंड़िया उसके निकट के रास्ते से होकर गुजरा । उसने गड़ेरिये को भेंड़ का मांस खाते तथा आनन्द मनाते देखकर मन-ही-मन कहा, "अरे भाई, यदि तुम मुझे उस भेंड़ का मांस खाते देखते, तो आसमान सिर पर उठा लेते ।"

मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि वह दूसरों को जो कार्य करते देखकर निन्दा किया करता है, वही कार्य स्वयं करने पर उसमें किसी बुराई का बोध नहीं करता ।

कुत्ता और घोड़े

एक कुत्ता एक घुड़साल में सोया करता था । घोड़े जब खाने के लिए नाद के पास जाते, तो वह जोर जोर से भूँकने लगता और काटने का भय दिखाकर उन्हें भगा देता ।

एक दिन एक घोड़ा बोला, "देखो, यह आभागा कुत्ता कितना दुष्ट है! यह हमारे चारे के ऊपर सोया रहता है । यह स्वयं तो उसे खा नहीं सकता, परन्तु जिनका जीवन उसी पर टिका है, उन्हें भी यह खाने नहीं देता ।"

ईर्ष्या के कारण सभी को दु:ख उठाना पड़ता है ।

चींटी और कबूतर

एक चींटी प्यास से आकुल होकर नदी में पानी पीने गई । सहसा वह नदी में गिर पड़ी और बहने लगी । तट पर स्थित वृक्ष की एक टहनी पर एक कबूतर बैठा था । उसने चींटी को संकट में देखकर पेड़ से एक पत्ता तोड़कर नदी में डाल दिया । वह पत्ता चींटी के सामने जा गिरने से वह उस पर चढ़ गई और पत्ते के किनारे लगते ही वह धरती पर आ पहुँची ।

इस प्रकार कबूतर की दया तथा सहायता से जीवन-दान पाकर चींटी मन-ही-मन उसे धन्यवाद दे रही थी, तभी उसने देखा कि एक बहेलिया अपने जाल में उस कबूतर को फँसाने की तैयारी कर रहा है, परन्तु बेचारे कबूतर को इसका जरा भी आभास नहीं, अत: वह निश्चिन्त होकर बैठा है ।

अपने प्राणदाता के ऊपर यह संकट आया देखकर चींटी शीघ्रतापूर्वक बहेलिये के पास गई और उसके पाँव में इतने जोर से काटा कि उसने हड़बड़ाकर जाल छोड़ दिया और धरती पर बैठकर अपना पाँव सहलाने लगा। इसी बीच कबूतर भी सारा माजरा समझकर वहाँ से रफू-चक्कर हो गया।

छोटे-से-छोटे जीव के प्रति भी दिखाई गयी अनुकम्पा व्यर्थ नहीं जाती।

कौवा और लोमड़ी

एक कौवे को कहीं से एक रोटी का टुकड़ा मिल गया। वह उसे लेकर जंगल में एक पेड़ पर बैठ गया और उसे खाने की तैयारी करने लगा। उसी समय एक लोमड़ी भी वहाँ आ पहुँची। कौवे की चोंच में रोटी का टुकड़ा देखकर उसके मुँह में पानी आ गया। उसने मन-ही-मन ही सोचा कि किसी उपाय से इस रोटी को हथियाकर अपना पेट भरना चाहिए। उसने कौवे को सम्बोधित करते हुए कहा, ''कौवे भाई, मैंने तुम्हारे जैसा सर्वांग-सुन्दर पक्षी अपने जीवन में कभी नहीं देखा। तुम्हारे पंख, तुम्हारी आँखें, तुम्हारी गर्दन, तुम्हारा सीना, तुम्हारे पंजे – सब कुछ कितने सुन्दर हैं। परन्तु दुख की बात यह है कि तुम गूँगे हो।''

लोमड़ी के मुख से अपनी व्याज-स्तुति सुनकर कौवा परम आह्लादित हुआ। उसने सोचा कि यह लोमड़ी तो मुझे गूँगा ही समझती है। इस समय यदि मैं इसे कुछ गाकर सुना दूँ, तो इस पर मेरा और भी रोब पड़ेगा। इतना सोचकर कौवे ने आवाज निकालने के लिए ज्योंही अपनी चोंच खोली, त्योंही उसकी रोटी नीचे गिर पड़ी। लोमड़ी ने परम आनन्दपूर्वक उसे उठाया और बड़े प्रेम से खाते हुए चलती बनी। कौवा ठगा-सा अपनी डाल पर बैठा पछताता रहा।

खुशामदी लोग अपना मतलब सिद्ध करने के लिए लोगों को चिकनी-चुपड़ी बातों से मुग्ध कर लेते हैं। उनकी झूठी प्रशंसा पर विश्वास कर लेने से काफी हानि उठानी पड़ती है।

डूबता हुआ बालक

एक बालक तालाब में स्नान करने गया था। सहसा पाँव फिसल जाने से वह गहरे जल में पहुँचकर डूबने लगा। संयोगवश उसी समय एक सज्जन वहाँ से होकर गुजर रहे थे। उन्हें देख बालक चिल्लाकर कहने लगा, ''चाचाजी, मैं डूब रहा हूँ, कृपा करके मुझे बाहर निकालिए।'' वे सज्जन बच्चे को खरी-खोटी सुनाने लगे। बालक बोला, ''पहले मुझे पानी से बाहर तो निकालिए! उसके बाद चाहे जितना डाँटते रहिए, नहीं तो आपकी डाँट सुनते सुनते ही मैं डूब जाऊँगा।''

लोगों को उपदेश नहीं, सहायता की जरूरत होती है।

शिकारी और लकड़हारा

एक आदमी जंगल में शिकार खेलने गया था। इधर-उधर काफी भटकने के बाद उसकी एक लकड़हारे से भेंट हुई। शिकारी ने पूछा, ''अरे भाई, क्या तुम बता सकते हो कि सिंह इधर कहाँ रहता है?'' लकड़हारे ने कहा, ''जरूर बता सकता हूँ। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें सिंह के पास ले जाकर दिखा देता हूँ।'' यह सुनकर शिकारी भय से काँप उठा और उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। वह बोला, ''नहीं भाई, मैं सिंह के पास नहीं जाना चाहता हूँ। मुझे तो सिंह के बारे में जानकारी भर चाहिए।'' लकड़हारा समझ गया कि यह व्यक्ति डरपोक है और वह मुस्कुराते हुए पुन: अपने काम में जुट गया।

कायर लोग भी बहुधा अपने साहस का दिखावा करते रहते हैं, पर मौके पर उन्हें पीठ दिखाते देरी नहीं लगती।

सिंह और किसान

एक बार एक सिंह एक किसान के गोशाले में घुस गया था। किसान ने सिंह को पकड़ने के लिए गोशाले का दरवाजा बन्द कर दिया। सिंह ने पहले तो भागने का प्रयास किया, परन्तु द्वार बन्द देखकर वह समझ गया कि भागना इतना आसान नहीं है। तब वह भयंकर गर्जना करते हुए गोशाले की गायों का संहार करने लगा। किसान ने देखा कि सिंह को पकड़ना लगभग असम्भव ही है और उसकी गायों का भी नाश हो रहा है, उसने तत्काल द्वार खोल दिये और सिंह भी वहाँ से पलायन कर गया।

सिंह की गर्जना तथा शोरगुल सुनकर किसान की स्त्री वहाँ आ पहुँची थी। अपने पति को अत्यन्त परेशान देखकर उसने कारण पूछा और सब कुछ जानने के बाद उसे आड़े-हाथों लेते हुए बोली, ''तुम्हारी जैसी बुद्धि है, उसी के अनुसार तुम्हें फल भी मिला है। मैंने आज तक तुम्हारे जैसा पागल नहीं देखा। जिस जन्तु को लोग देखते ही भागने लगते हैं, उसी को तुम पकड़ने का प्रयास कर रहे थे!''

कोई भी कार्य आरम्भ करने के पहले अपनी सामर्थ्य देख लेनी चाहिए।

❖ (क्रमश:) ❖
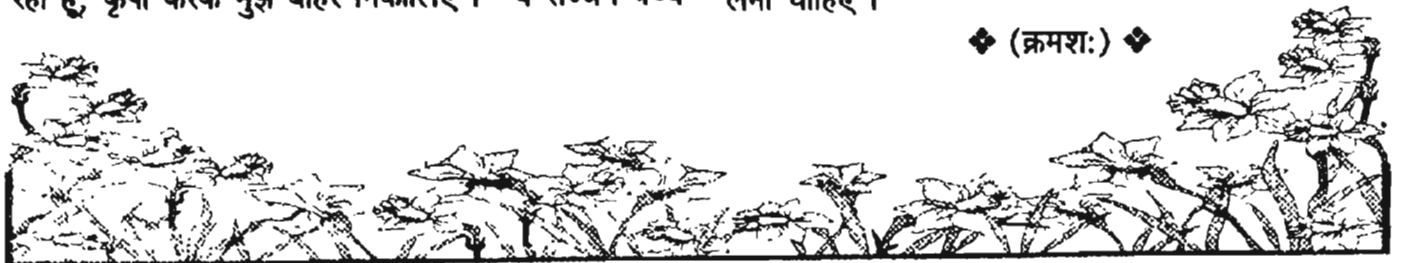
सत्य और स्वर्ण

भैरवदत्त उपाध्याय

प्राकृतिक शक्तियों का नियन्ता ऋत है और जीव-जगत् की नियामक शक्ति का नाम है सत्य। सत् (being) का भाव भी सत्य है। सत्य का अविकृत स्वरूप परिज्ञेय है। मानव-जगत् का व्यवहार सत्य पर आधारित है। सत्य जीवन का अभिप्रेत और अभिवांछित लक्ष्य है। यह शिव और सुन्दर है। सत्य वह भास्वर सूर्य है, जिसे स्वार्थ के श्याम मेघ आवृत करने का असफल प्रयास करते हैं। सासारिक विषय-वासनाओं का प्रभजन सत्ता के उस प्रज्ज्वलित दीप को बुझाने की चेष्टा करता है। लोभ का उलूक सत्य के सूर्य की आराधना नहीं करता; वह उसके अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारता। लोभ की वृत्तियाँ उसे ढँक देती हैं। भौतिक सम्पत्तियों का सुनहरा आवरण उसे आच्छादित करता है। लोग उसके मोहक रूप को ही सत्य मानकर उसे पाने को असत्य के पथ पर चलने लगते हैं। सत्य को सोने से तोलते, खरीदते, बेचते और सोने की जूती से कुचलते हैं। वे हिरण्याक्ष हैं, उन्हें चारों ओर सोना-ही-सोना दीख पड़ता है।

स्वर्ण लोभ का प्रतीक है। भौतिक समृद्धियों का वाचक है। जागतिक एव अदमित इच्छाओं का उपमान है। माया का चमचमाता वह रूप है, जिससे हजारों किरणें फूटकर आँखो में चकाचौंध पैदा करती हैं और व्यक्ति सत्य के प्रकाश को देखने में असमर्थ हो जाता है। स्वर्ण में आकर्षण है, मृग-मरीचिका है। स्वर्णमृग का जन्म असम्भव है; फिर भी श्रीराम उसके पीछे दौड़े। उसे पाने की चेष्टा की। किन्तु उस स्वर्णमृग ने उन्हें छल लिया। हिरण्याक्ष की सोने की आँखें समूची वसुधा को ही हिरण्मय देखकर लालच में आ गयीं। वह उसे रसातल में ले गया। भगवान महावराह ने उसे उद्धृत करके यथास्थान प्रति-स्थापित किया। हिरण्यकशिपु सोने की कशा (चाबुक) से मानवीय मूल्यों की आराधिका देवशक्ति को ही आतंकित करने लगा। स्वर्णनगरी लंका का अधिपति रावण अतुल स्वर्णराशि से उन्मत्त था। स्वर्ण, रजत और अयस्त की तीन तीन नगरियों के स्वामी त्रिपुरासुर का तो कहना ही क्या था? परिणाम सब जानते हैं। लोभ से असुरों का नाम मिट गया।

आचार्य शुकनास ने कुमार चन्द्रपीड़ को उपदेश देते हुए कहा था कि लक्ष्मी सज्जन को भी खल बना देती है। उसमें भी अहंकार आ जाता है। मादकता से वह अपनी प्रकृति को भुला देता है। सोने की इस मादकता को कविवर बिहारी ने परखा था और धतूरे से सौ-गुनी मादकता प्रतिपादित की थी। धतूरे को तो लोग खाकर ही पागल होते हैं, किन्तु इसे देखने मात्र से बुद्धि में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है —

> कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
> या खाये बौराय नर, वा पाये बौराय॥

आज सोने की कीमत आसमान पर चढ़ी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सोने से चलता है। रुपये का मूल्य सोने से आँका जाता है। सोने की माँग बढ़ी है। महत्ता बढ़ गयी है। आज जब सोने के सिक्के उछालकर कानून, न्याय और निर्णय बदले जा रहे हैं, सिद्धान्त बिक रहे हैं, कुर्सियाँ नीलाम हो रही हैं; सोना आत्मीय सम्बन्धों का माध्यम, जीवन का मापदण्ड और बड़प्पन की पहचान बन गया है, सत्य का दीपक असत्य के आवरण से ढँका है, उसके मुँह पर सोने का ढक्कन लग गया है, जिससे सत्य का साधक अमृतपुत्र मानव भटक चुका है, तब हमारी यही विनय है कि ससार का पोषण करनेवाले हे प्रभो, तू सत्य के मुख पर लगे सोने के ढक्कन को हटा दे, ताकि हम मानवीय मूल्यों को, आत्मीय सम्बन्धों को, सत्य के प्रकाश में देख सकें। उसका दर्शन और उसकी अनुभूति कर सकें —

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

❖ ❖ ❖

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

अथ तृतीय खण्डः

आख्यायिका का हेतु

भाष्य – 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्' (केन. २/३) इत्यादि-श्रवणाद् यद्-अस्ति तद्-विज्ञातं प्रमाणैः यद्-नास्ति तद्-अविज्ञातं शशविषाण-कल्पम् अत्यन्तम् एव असद्-दृष्टम्; तथा इदं ब्रह्म अविज्ञातत्वाद् असद्-एव इति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूत् इति तदर्थ-इयम् आख्यायिका आरभ्यते ।

'यह (ब्रह्म) ज्ञात (वस्तुओं) से भिन्न है और फिर अज्ञात (वस्तुओ) से भी परे है' – ऐसा सुनकर कुछ मन्दबुद्धि लोगों को (कही) ऐसा भ्रम न हो जाये कि जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसे (उचित) प्रमाणों (साधनों) के द्वारा जाना जा सकता है और जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं है, वह अज्ञात तथा खरगोश के सिंग के समान नितान्त असत् होता है – ऐसा देखने में आता है; उसी प्रकार ब्रह्म (भी) अज्ञात होने के कारण असत् होगा, इस कारण (भ्रम के निवारणार्थ) यह आख्यायिका (कथा) आरम्भ की जाती है ।

तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानाम् अपि परोदेवः, ईश्वराणाम् अपि परमेश्वरः, दुर्विज्ञेयः देवानां जय-हेतुः, असुराणां पराजय-हेतुः, तत्कथं न अस्ति इति एतस्य अर्थस्य अनुकूलानि हि उत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते ।

जो सर्व प्रकार से (विश्व-ब्रह्माण्ड का) नियन्ता है, देवताओं का भी परम देवता है, सामर्थ्यवानो का परमेश्वर है, कठिनाई से जाननेयोग्य है, देवताओं के विजय तथा असुरों के पराजय का कारण है; ऐसा ब्रह्म भला कैसे अस्तित्वहीन (शून्यरूप) हो सकता है? (अर्थात् नही हो सकता) – आगे आनेवाले मंत्र इसी तात्पर्य के बोधक दिखायी देते हैं ।

अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये । कथम्? ब्रह्मविज्ञानात् हि अग्नि-आदयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः । ततो अपि अतितराम् इन्द्र इति ।

अथवा यह (आख्यायिका) ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए हो सकती है। कैसे? (यह बताने के लिए कि) ब्रह्मज्ञान के कारण ही देवताओं में अग्नि आदि को श्रेष्ठता प्राप्त हुई और उनमें भी इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया ।

अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्म इति एतत् प्रदर्श्यते – येन अग्नि-आदयो अतितेजसो अपि क्लेशेन एव ब्रह्म विदितवन्तः तथा इन्द्रो देवानाम् ईश्वरो अपि सन् इति ।

या फिर इसके द्वारा यह दिखाया जा रहा है कि ब्रह्म को जानना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि अग्नि आदि अत्यन्त तेजस्वी होकर भी और इन्द्र देवताओं के अधीश्वर होकर भी बड़ा कष्ट उठाकर ही ब्रह्म को जान सके थे ।

वक्ष्यमाण-उपनिषद् विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्या-व्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्व-भोक्तृत्व-आदि-अभिमानो मिथ्या इति एतत् दर्शनार्थं वा आख्यायिका, यथा देवानां जयादि-अभिमानः तद्वत् इति ।

अथवा आगे कही जानेवाली उपनिषद् (सगुण ब्रह्म विषयक) उपासना का विधान करनेवाला है । अथवा यह आख्यायिका यह दिखाने के लिए है कि देवताओं के विजय के अभिमान के समान ही, ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त जीवों का कर्तृत्व-भोक्तृत्व विषयक अभिमान करना निरर्थक है ।

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये । तस्य ह
ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ।।१।। (१४)

अन्वयार्थ – ब्रह्म ब्रह्म ने **ह** ही **देवेभ्यः** देवताओं के लिए **विजिग्ये** विजय प्राप्त किया । **तस्य** उस **ब्रह्मणः** ब्रह्म की **विजये** विजय में **ह** ही **देवाः** देवों ने **अमहीयन्त** गौरव माना ।

भावार्थ – (कहते हैं कि देवासुर संग्राम में) ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की । ब्रह्म की इस विजय में देवतागण स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे ।

भाष्य – ब्रह्म यथोक्त-लक्षणं परं ह किल देवेभ्यो अर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानाम् असुराणां च संग्रामे असुरान् जित्वा जगद्-अरातीन् ईश्वर-सेतु-भेतृन् देवेभ्यो जयं तत् फलं च प्रायच्छत् जगतः स्थेम्ने । तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवा अग्नि-आदयः अमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तः ।।१।।

पूर्वोक्त (श्रोत्र-का-श्रोत्र आदि) लक्षणोंवाले परम ब्रह्म ने ही देवताओ के लिए विजिग्ये अर्थात् जय प्राप्त किया – देवताओं तथा असुरों के संग्राम में जगत् की स्थिरता हेतु, जगत् के शत्रु, ईश्वर की मर्यादा भंग करनेवाले, असुरों को जीतकर वह विजय तथा (सुख-समृद्धि रूप) उसका फल देवताओं को प्रदान किया। ब्रह्म के ही उस विजय में अग्नि आदि देवतागण अपने को महिमान्वित महसूस करने लगे ॥१॥

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति। तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥२॥(१५)

अन्वयार्थ – **ते** उन लोगों ने **ऐक्षन्त** सोचा **अयम्** यह **विजयः** विजय **अस्माकम् एव** हमारा ही है, **अयम्** यह **महिमा** गौरव **अस्माकम् एव** हमारा ही है। **तत्** ब्रह्म **ह** अवश्य **एषाम्** इनके (इस भ्रम या मिथ्याभिमान को) **विजज्ञौ** जान लिया। (वे) **तेभ्यः ह** उनके सामने ही **प्रादुर्बभूव** प्रकट हुए। (वे लोग) **तत्** उस ब्रह्म को **न व्यजानत** नहीं जान सके कि **इदम्** यह **यक्षम्** पूज्य स्वरूप **किम्** कौन है ॥

भावार्थ – वे देवता लोग सोचने लगे कि यह विजय हमारी ही है और यह गौरव भी हमारा ही है। ब्रह्म ने उनकी इस बात (मिथ्याभिमान) को जान लिया और उनके सामने प्रकट हुए, परन्तु वे लोग यह जान नहीं सके कि यह पूज्यमूर्ति कौन है ॥२॥ (१५)

भाष्य – तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रिया-फल-संयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षो अयं जयो महिमा च इति अजानन्तः – <u>ते</u> देवाः <u>ऐक्षन्त</u> ईक्षितवन्तः अग्नि-आदि स्वरूप-परिच्छिन्न-आत्मकृतो <u>अस्माकम् एव अयं विजयः अस्माकम् एव अयं महिमा</u> अग्नि-वायु-इन्द्रत्व-आदि-लक्षणो जय-फलभूतो अस्माभिः अनुभूयते; न अस्मत् प्रत्यगात्मभूत-ईश्वर-कृत <u>इति</u>।

तब, (सबकी) आत्मा में स्थित अन्तरात्मा-स्वरूप, ईश्वर, सर्वज्ञ, समस्त कर्मो के फलप्रदाता, सर्व सक्तिमान, जगत् की रक्षा करने के इच्छुक (ब्रह्म) की ही यह विजय तथा यह महिमा है – यह न जानते हुए वे देवतागण यह सोचने लगे – अग्नि आदि स्वरूप से परिच्छिन्न – अग्नि, वायु, इन्द्र रूपी जिन हमको विजय के फल का अनुभव हो रहा है, हम लोगों की ही यह विजय है और हम लोगों की ही यह महिमा है; न कि हमारे अन्तरात्मा रूप परमेश्वर की।

एवं मिथ्या-अभिमान-इक्षणवतां <u>तत् ह</u> किल <u>एषां</u> मिथ्या-इक्षणं <u>विजज्ञौ</u> विज्ञातवत्-ब्रह्म। सर्व-इक्षितृ हि तत् सर्वभूत-करण-प्रयोक्तृत्वात् देवानां च मिथ्या-ज्ञानम् उपलभ्य मा एव असुरवत् देवा मिथ्या-अभिमानात् पराभवेयुः इति तद्-अनुकम्पया देवान् मिथ्या-अभिमान-अपनोदनेन अनुगृह्णीयाम् इति <u>तेभ्यः</u> देवेभ्यः <u>ह</u> किल अर्थाय <u>प्रादुर्बभूव</u> स्वयोग-माहात्म्य-निर्मितेन अत्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानाम् इन्द्रिय-गोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत्। <u>तत्</u> प्रादुर्भूतं ब्रह्म <u>न व्यजानत</u> नैव विज्ञातवन्तः देवाः <u>किमिदं यक्षं</u> पूज्यं महद्भूतम् <u>इति</u> ॥२॥

इस प्रकार मिथ्या अभिमान करनेवालों (देवताओं) का वह मिथ्या विचार ब्रह्म ने जान लिया। समस्त जीवों के मन तथा इन्द्रियों के प्रेरक होने के कारण वे सर्वज्ञ हैं और देवताओं के इस मिथ्या बोध (भ्रम) को जानकर (उन्हें आशंका हुई कि) कहीं असुरों के समान ही देवगण भी मिथ्या अभिमान के कारण पराजित न हो जायँ; अतः मैं देवताओं पर कृपा करके उनका मिथ्या अभिमान दूर करूँगा – यह सोचकर वे उन देवताओं के लिए ही उनके समक्ष प्रकट हुए। अर्थात् अपनी योगमाया की शक्ति द्वारा निर्मित अतीव अद्भुत तथा विस्मयजनक रूप से साथ (धारण करके) देवताओं के इन्द्रियगोचर रूप में आविर्भूत हुए। देव्रता उन प्रकट हुए ब्रह्म को नहीं जान सके कि ये महान् यक्ष अर्थात् पूजनीय व्यक्ति कौन है? ॥२॥

❖ (क्रमशः) ❖

गुरु-शिष्य के झगड़े से निकली 'तैत्तिरीय संहिता'

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित, वर्तमान काल के महानतम संस्कृत-विद्वानों में अग्रगण्य डॉ. वर्णेकर ने संस्कृत, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की है। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान तीन खण्डों में प्रकाशित उनका 'संस्कृत-वाङ्मय-कोष' है। संस्कृत तथा उसके साहित्य के विषय में उनके लेखमाला की यह पाँचवीं कड़ी है। – सं.)

यज्ञविधि में दूसरे ऋत्विक् (पुरोहित) को 'अध्वर्यु' कहते हैं। यज्ञ का सारा क्रियात्मक अनुष्ठान उसी के द्वारा होता है।

यह अध्वर्यु जिस वेद के मंत्रों का प्रयोग करता है, वह है यजुर्वेद। अत: यजुर्वेद को ही अध्वर्यु वेद कहते हैं। यजुर्वेद के मंत्र प्रधानतया गद्यात्मक हैं – **गद्यात्मको यजु:**। अथवा जिन मंत्रों के अक्षरों का अन्त अनिश्चित होता है, उसे यजु कहते हैं –**अनियताक्षरावसानो यजु:**।

'यजुस्' शब्द जिस 'यज्' धातु से साधित हुआ, पाणिनीय 'धातुपाठ' में इसके तीन अर्थ बताये गये हैं – **यज् देवपूजा संगतिकरणदानेषु** – देवपूजा, संगतिकरण और दान। तदनुसार यजुर्वेद के मंत्रों का देवपूजा आदि धार्मिक विधियों से सम्बन्ध रहता है। ऋचाओं से स्तवन और यजु से यजन करना चाहिये – **ऋग्भि: स्तुवन्ति। यजुर्भि: यजन्ति** – ऐसी परम्परा है।

यजुर्वेद की शाखाएँ

पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य में कहा है – **एकशतम् अध्वर्युशाखा:। यजुरेकशतात्मकम्** – यानी यजुर्वेद की १०१ शाखाएँ थीं। परन्तु आज उनमें से केवल पाँच शाखाएँ विद्यमान हैं –

(१) कठशाखा – (इसकी कपिष्ठल नामक उपशाखा थी, वह आज लुप्त हो चुकी है) – इस शाखा के ब्राह्मण कश्मीर में अत्यल्प संख्या में मिलते हैं।

(२) कालाप शाखा – मैत्रायणी इसका दूसरा नाम है। आज इस शाखा के लोग गुजरात में कहीं कहीं मिलते हैं। मैत्रायणी संहिता के चार काण्ड हैं, जिनमें ५४ प्रपाठक हैं। प्रो. श्रोडर ने काठकी व कालाप शाखाओं का सम्पादन किया है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में सात काण्ड हैं, जिनमें ४४ प्रपाठक हैं। इसी संहिता की

(३) आपस्तम्ब और

(४) हिरण्यकेशी नामक दो शाखाएँ विद्यमान हैं। इन शाखाओं के ब्राह्मण गोदावरी के क्षेत्र में निवास करते हैं। प्राचीन काल में तैत्तिरीय अथवा आपस्तम्ब शाखा के लोग नर्मदा के दक्षिणी प्रदेश में रहते थे।

(५) वाजसनेयी शाखा – ऋषि याज्ञवल्क्य इस शाखा के प्रवर्तक माने गये हैं। वाजसनेयी संहिता की काण्व और मध्यन्दिन नामक दो उपशाखाएँ हैं। काण्व-शाखीय महाराष्ट्र में और मध्यन्दिन शाखीय मध्य भारत तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में मिलते हैं। याज्ञवल्क्य की वाजसनेयी संहिता में ४० अध्याय हैं। इसका अन्तिम ४०वाँ अध्याय ही 'ईशावास्य उपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार यजुर्वेद की जो पाँच शाखाएँ आज यत्र-तत्र विद्यमान हैं। उनमें से कठ-कपिष्ठल, कालाप (मैत्रायणी), तैत्तिरीय और काठक – इन शाखाओं का कृष्ण यजुर्वेद में अन्तर्भाव होता है। यजुर्वेद के दूसरे भाग का नाम है – **शुक्ल यजुर्वेद अथवा वाजसनेयी संहिता**। काण्व और माध्यन्दिन – शुक्ल यजुर्वेद की उपशाखाएँ हैं।

यजुर्वेद की शुक्ल और कृष्ण संज्ञाओं का एक कारण यह बताया जाता है कि – शुक्ल यजुर्वेद की संहिता में केवल मंत्रों का ही संग्रह है। उनका विनियोग बतानेवाले ब्राह्मण भाग का मिश्रण इस संहिता में नहीं है। अत: इसे 'शुक्ल' की संज्ञा दी गयी। कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मंत्र और उनका विनियोग बतानेवाले गद्यात्मक वाक्य में इनका मिश्रण पाया जाता है।

इन संज्ञाओं का दूसरा कारण एक प्रसिद्ध कथा के द्वारा बताया जाता है – वेदव्यास ने सम्पूर्ण यजुर्वेद वैशम्पायन को पढ़ाया। वैशम्पायन ने वह याज्ञवल्क्य को पढ़ाया। गुरु-शिष्य के झगड़े में वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से अपना ज्ञान वापस माँग लिया। अहंकारी याज्ञवल्क्य ने उसका वमन किया, जिसका चयन वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिरी पक्षियों के रूप में किया। इसलिये उस वेद संहिता का नाम 'तैत्तिरीय संहिता' कहा गया।

पुरानी विद्या का वमन करने पर याज्ञवल्क्य ने नवीन वेदविद्या की प्राप्ति के लिये भगवान सूर्य की आराधना की। प्रसन्न होकर सूर्य ने वाजी (घोड़ा) का रूप लेकर याज्ञवल्क्य को नई संहिता प्रदान की। इसी नई संहिता का नाम है – शुक्ल यजुर्वेद। यह संहिता 'वाजी' द्वारा प्राप्त होने के कारण इसे 'वाजसनेयी' संज्ञा दी जाती है। आज भी इस वाजसनेयी संहिता के दो संस्करण मिलते हैं। प्रो. वेबर ने दोनों संस्करणों का संकलन किया है।

वाजसनेयी संहिता में ४० अध्याय; ३०३ अनुवाक; १,९७५ कण्डिकाएँ २९,६२५ शब्द और ८८,८७५ अक्षर संग्रहित हैं। इसमें आरम्भ के २५ अध्यायों में महान् यज्ञों के

लिए आवश्यक मंत्रमय प्रार्थनाएँ हैं। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड मे अन्तर्भूत विधि विषयो का चयन इस संहिता में हुआ है।

काण्व संहिता – शुक्ल यजुर्वेद की इस संहिता में ४० अध्याय, ३३८ अनुवाक तथा २०८६ मंत्र हैं। इस संहिता का पांचरात्र संहिता से विशेष सम्बन्ध है। पहले यह शाखा उत्तर भारत मे थी, पर अब यह मात्र महाराष्ट्र में ही मिलती है।

काठक संहिता – इस संहिता के पाँच खण्ड हैं – (१) इठिमिका (२) मध्यमिका (३) ओरमिका (४) याज्यानुवाक्या (५) अश्वमेघादनुवचन। इन पाँच खण्डों में ४० स्थानक, ११३ अनुवचन, ८४३ अनुवाक्य और ३,०९१ मंत्र हैं।

कठ-कपिष्ठल संहिता – यह संहिता अपूर्ण मिलती है। इसके प्रथम अष्टक मे ८ अध्याय हैं। द्वितीय और तृतीय अध्याय खण्डित हैं। चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ अध्यायों में मंत्र-तंत्र खण्डित हैं। बाकी अष्टकों के अध्यायो की संख्या अनिश्चित है। काठक संहिता से यह संहिता अनेक विषयों में विभिन्न-सी है।

कालाप (मैत्रायणी) संहिता – इस गद्य पद्यात्मक संहिता में चार काण्ड हैं, जिनके प्रपाटकों की संख्या इस प्रकार है – काण्ड (१) – प्रपाठक २। काण्ड (२) – प्रपाठक १३। काण्ड (३) – प्रपाठक १६। काण्ड (४) – प्रपाठक १४।

इस संहिता में कुल ३,१४४ मंत्र हैं, जिनमें १,७०१ ऋग्वेद की ऋचाएँ हैं। इसमें चातुर्मास्य, वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, सौत्रामणि इत्यादि यज्ञों के विधि और मंत्र मिलते हैं।

तैत्तिरीय (आपस्तम्ब) संहिता – इसमें ७ काण्ड, ४४ प्रपाठक और ६३१ अनुवाक हैं। इसमें भी राजसूय, याजमान, पौरोडाश इत्यादि यज्ञों के वर्णन मिलते हैं।

कृष्ण यजुर्वेदी परम्परा

भगवान व्यास से यजुर्वेद का ग्रहण करने पर वैशम्पायन ने अपनी संहिता की २७ शाखाएँ की और आलंबी, चरक आदि अपने शिष्यो को उसे प्रदान किया। आगे चलकर उन २७ शाखाओ का विस्तार ८६ शाखाओं में हुआ, जिनमें से आज काठक, कपिष्ठल और मैत्रायणी – ये तीन संहिताएँ ही यत्र-तत्र विद्यमान हैं। वैशम्पायन से झगड़ा होने पर उसके शिष्य याज्ञवल्क्य ने सूर्यदेवता से जो वाजसनेयी अथवा शुक्ल यजुर्वेद की संहिता प्राप्त की, उसकी ६७ उपशाखाएँ हैं, जिनमें से १५ प्रमुख मानी जाती हैं। महाभारत के शान्तिपर्व मे अध्वर्युवेद (यजुर्वेद) की १०१ शाखाएँ बतायी गयी हैं। वह संख्या कृष्ण यजुर्वेद की ८६ और शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाएँ मिलाकर पूर्ण होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की काठक, कपिष्ठल तथा मैत्रायणी संहिताएँ और मैत्रायणी ब्राह्मण, मैत्रायणी सूत्र, मानव सूत्र और वराह सूत्र – ये सम्बन्धित ग्रन्थ पहले जर्मनी में मुद्रित हुए। अब वे भारत में भी मुद्रित हो चुके हैं।

शुक्ल यजुर्वेदी परम्परा

याज्ञवल्क्य द्वारा प्रवर्तित शुक्ल यजुर्वेद की ६७ शाखा-उपशाखाओ में १५ भेद प्रमुख हैं। उनमें काण्व और माध्यन्दिन संहिता को और कात्यायन तथा पारस्कर सूत्रों का विशेष महत्व है। काण्व शाखीय ब्राह्मण सम्पूर्ण भारत में मिलते हैं, अत: उनमें द्रविड़ (दाक्षिणात्य) काण्व और गौड़ (औत्तराह) काण्व – ये भेद माने जाते हैं। आज के वैदिक ब्राह्मण समाज में जो अन्यान्य शाखाएँ और उपशाखाएँ मिलती हैं, उनका मूल वेदों की शाखा-उपशाखाओं से ही है।

सामवेद संहिता

यज्ञ में तीसरे ऋत्विक् को 'उद्‌गाता' कहते हैं। इस उद्‌गाता के लिये चयन किये हुए मंत्र-संग्रह का नाम ही सामवेद है।

यज्ञ के समय जिस देवता के लिये हवन किया जाता है, उसका आवाहन 'उद्‌गाता' ऋत्विक् उचित स्वरों में मंत्रों को गाते हुए करने है। इस मंत्रगान को ही 'साम' कहते हैं।

सामगान के पाँच प्रकार -

(१) प्रस्ताव – इसका गायन प्रस्तोता करता है।

(२) उद्‌गीत – इसका गायन उद्‌गाता करता है।

(३) प्रतिहार – इसका गायन प्रतिहर्ता करता है।

(४) उपद्रव – इसका गायन उद्‌गाता करता है।

(५) निधान – इसका गायन प्रस्तोता करता है।

सामविधान ब्राह्मण – सामवेद से सम्बन्धित इस ग्रन्थ में ऐन्द्रजालिक प्रयोगों का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक परम्परा के अनुसार सामध्वनि सुनाई देते ही अन्य वेदों का अध्ययन बन्द कर दिया जाता है। आपस्तम्ब-स्मृतिकार कहते हैं कि कुत्ता, गधा, भेंड़, बकरी इत्यादि प्राणियों की, बालक के रोने का अथवा किसी वाद्य की ध्वनि सुनाई देते ही वेदों का अध्ययन तत्काल बन्द करना चाहिये।

चरणव्यूह तथा पातंजल महाभाष्य में सामवेद के एक सहस्र भेदों का निर्देश है – **सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति** (चरणव्यूह)। **(सहस्रवर्त्मा सामवेद:)** व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में चारों वेदों की शाखाओं की संख्या बताई गई है – 'एकविंशतिधा (२१) बाह्वृचम्। एकशतम् (१००) अर्ध्वयुशाखा:। सहस्रवर्त्मा (१०००) सामवेद:। नवधा (९) आथर्वणो वेद:। आज ये सारे शाखाभेद उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु आज कौथुम, राणायनीय, जैमिनीय – ये तीन ही सामवेद की शाखाएँ जीवित मानी जाती हैं।

सामवेद गान प्रधान होने के कारण उसमें केवल गानोचित

ऋचाओं का ही संग्रह किया हुआ है । सामवेद की कुल १५४९ ऋचाओं में से केवल ७५ ऋचाएँ ऋग्वेद के बाहर की है । इसी कारण सामवेद का पृथक् अस्तित्व नही माना जाता । ऋग्वेदीय ऋचाओं के आधार पर सामगान की रचना होती है, अत: ऋचाओं को 'सामयोनि' कहते हैं ।

सामवेद की विद्यमान तीन शाखाओं में से **कौथुम शाखा** विशेष प्रसिद्ध है । कौथुम शाखा के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक नामक दो भाग है । (आर्चिक – ऋचाओं का समूह, जिनके ऋचाओं की कुल संख्या १८१० है । इनमें कुछ ऋचाओ की पुनरावृत्ति होती है । पुनरावृत्त ऋचाओं की संख्या छोड़कर इस संहिता की कुल संख्या १५४९ ही रहती है ।

पूर्वार्चिक – सामवेद के इस विभाग को **छन्दसी** अथवा छन्दसिका कहते है । इसमे कुल ५८५ ऋचाएँ छह प्रपाठकों मे संगृहीत की है । प्रपाठको की कुल ५९ 'दशतय' (अर्थात् दस ऋचाओ का समूह) किये हैं । प्रारम्भिक १२ दशतय अग्नि विषयक, बाद में ३६ दशतय सोमविषयक और अन्त में ११ दशतय सोमविषयक है । पूर्वार्चिक के अन्त में ५५ मंत्रो का जो एक पर्व है, उसे **अरण्यकाण्ड** कहते हैं । इसके आगे उत्तरार्चिक का आरम्भ होता है । पूर्वार्चिक में (१) **ग्रामगेय** गान और (२) **अरण्यगेय** नामक दो प्रकार के गान हैं । ग्रामगेय गान से सम्बन्धित ऊहगान और अरण्यगेय गान से सम्बन्धित ऊह्यगान नामक दो प्रकार के विकृत गान माने गये हैं । अरण्यगान विकृत और ऊह्यगान रहस्यात्मक होने के कारण उनका गायन अरण्य में ही करने की परम्परा है ।

उत्तरार्चिक – सामवेदीय कौथुम शाखा के इस उत्तर भाग म ४० गेय साम है, जिनमें से प्रत्येक में ३-३ ऋचाएँ होती है । कुल ९ प्रपाठको मे प्रत्येक के दो या क्वचित् तीन भाग है । उत्तरार्चिक के अनेक मंत्र पूर्वार्चिक से लिये गये है । इसमे सात अनुष्ठानो का निर्देश किया है –

(१) दशरात्र (२) संवत्सर (३) एकाह (४) अहीन (५) सत्र (६) प्रायश्चित्त (७) क्षुद्र

पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम, छन्द और वर्णन देवताओं के अनुसार है । उत्तरार्चिक में वह क्रम यज्ञानुसार किया है । पूर्वार्चिक में अनेक योनि और ताल-लय है, उत्तरार्चिक में उसका अभाव है । कौथुम शाखा के इन दो भागों का केवल संहिता पाठ मात्र आज उपलब्ध है । यह संहिता पाठ ही ताल, लय और वाद्यो सहित गाया जाता है । सामगायक पुरोहित सप्तस्वरो का निर्देश अंगुलि-संकेत द्वारा करता है ।

सामवेदी उद्गाता पुरोहित होने के लिये छात्र को आर्चिक द्वारा संगीत की दीक्षा लेनी पड़ती थी । उत्तरार्चिक के कुछ सूक्त कंठस्थ होने के बाद दृढ़ अभ्यास करने पर सामवेदी उद्गाता पुरोहित तैयार होता था । भारतीय संगीत विद्या का मूल स्रोत सामगान में ही मिलता है । उस प्राचीनतम काल में ही इस देश का संगीत इतनी उन्नत अवस्था में था कि उसे जानकर प्राचीन भारतीय संस्कृति की विकसित अवस्था की कल्पना की जा सकती है ।

राणायनीय शाखा – सामवेद की यह शाखा कौथुम शाखा से विशेष भिन्न नही है । इसकी मंत्र संख्या भी कौथुम के बराबर है । भेद केवल उच्चारण मे है । जैसे कौथुम शाखा मे जहाँ 'हा उ' उच्चारण होता है, वहाँ राणायनीय शाखीय 'हा वु' उच्चारण करते है ।

जैमिनीय शाखा – इस शाखा की कुल मंत्र संख्या १६८७ और सामगानो की संख्या ३६८१ है । इस शाखा की एक उपशाखा **तलवकार** नाम से प्रसिद्ध है । सुप्रसिद्ध **केनोपनिषद्** इसी शाखा से सम्बन्धित है ।

इस प्रकार सामवेद का सम्बन्ध – यज्ञ, इन्द्रजाल और संगीत – इन तीन विषयो के साथ जुड़ा हुआ है । मंत्रों की दृष्टि से यह वेद स्वतंत्र नही है, फिर भी उसकी विशेषता अनोखी है और यज्ञविधि में उसका अपना स्थान स्वतंत्र है । चरणव्यूह की टीका में महीदास कहते हैं कि सामवेद की कुल १६ शाखाओं मे से तीन – कौथुमी, जैमिनीय और राणायनीय शाखाएँ गुर्जर, कर्नाटक और महाराष्ट्र में विद्यमान है । सायणाचार्य ने केवल राणायनीय शाखा पर अपना भाष्य लिखा है ।

सामवेद में पाठभेद

सामवेद की कौथुम और राणायनीय शाखाओं में कुछ अल्पमात्र पाठभेद है । राणायनीय शाखा के पाठ प्रमुख माने जाते थे । परन्तु सन् १८४२ में **स्टीवेंसन** (लन्दन) ने और सन् १८४८ मे **बेनफे** (लिप्जिग्) ने जर्मन अनुवाद तथा टिप्पणी सहित सामवेदीय शाखाओ की आवृत्ति प्रकाशित की । इस कारण नवीन वैदिक विद्वान् परम्परागत पाठ को अप्रमाणिक मानते हैं । आगे चलकर वही नया राणायनीय पाठ, सायण-भाष्य के साथ भारत में प्रकाशित हुआ । सन् १८६८ में कौथुम शाखा प्रकाशित हुई, उसमें पाठ सुव्यवस्थित न होने के कारण सामवेदीय विद्वान् उसे प्रमाणिक नही मानते । इस प्रकार सामवेद के प्रमाणभूत पाठ आज विवाद तथा अन्वेषण का विषय है ।

भारतीय परम्परा के अनुसार समग्र वेद समकालीन माने गये है । अत: उनकी पौर्वापर्य-विषयक चर्चा को महत्व नही दिया जाता । सामवेद मे ऋग्वेद के मंत्र अवश्य मिलते हैं, पर ऋग्वेद मे भी (१-५-८) साम का निर्देश किया है । इसका अर्थ ऋग्वेद को साम का अस्तित्व अज्ञात नही था । साम यदि उत्तरकालीन होते, तो ऋग्वेद मे उसका उल्लेख नही होता ।

सामगान के प्रकार

यज्ञविधि में उद्गाता को अपने साममंत्रों का गायन करना पड़ता है। मंत्रो की गानविधि का विवेचन करनेवाले कुछ ग्रन्थ भी निर्मित हुए। उनमें चार प्रमुख ग्रन्थों में सामगान की पद्धति का पूर्णतया विवरण दिया है। सामान्य लौकिक संगीत शास्त्र से सामगान की पद्धति अलग-सी है। तथापि संगीत शास्त्रोक्त सप्त स्वरों का प्रयोग सामगान में होता है। सामगान पद्धति में गेय स्वरों के नाम तथा क्रम इस प्रकार है – क्रुष्ठ, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वर्य। सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् में, सामगान के हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान नामक पाँच विभाग बताए हैं। उनमें से प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार का अन्त:करण के भावों से और निधान का तानों से सम्बन्ध माना जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है – **नासामा यज्ञो भवति। न व वाऽहिंकृत्य साम गीयते** – अर्थात् सामगान के बिना यज्ञ नहीं होता और हिंकृति के बिना सामगान नही होता। इस प्रकार सामगान की महिमा अन्यत्र विविध स्थानों में वर्णित हुई है। सामवेद के मंत्रों में उपासना के साथ योगविधि और आध्यात्मिक उपदेश भी दिये हुए हैं।

ऋचाओं का सामगान में रूपान्तर करने हेतु हा, उ, हो, इ, ओ हो वा, ओ हो इ, ओ हा इ – इस प्रकार पद जोड़े जाते हैं। इन पदों को 'स्तोभ' कहते हैं। स्तोभ और स्वर की सहायता से ऋचा का रूपान्तर गान में होता है।

वेदों में स्वरांकन

वेद ग्रन्थों में स्वरों का निर्देश करने के चार प्रकार विद्यमान हैं। ऋग्वेद में उदात्त स्वर का चिह्न नहीं होता। अनुदात्त स्वर का निर्देश अक्षर के नीचे आड़ी रेखा से होता है और स्वरित का निर्देश ऊपर खड़ी रेखा से किया जाता है।

कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिता में उदात्त का निर्देश ऊपर खड़ी रेखा से होता है। शुक्ल यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण में उदात्त स्वर, नीचे आड़ी रेखा से दिखाया जाता है। परन्तु सामवेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का निर्देश १,२,३ तक अंकों से किया जाता है। उसी प्रकार संगीत के षड्जादि स्वरों का निर्देश १ से ७ तक अंकों द्वारा किया जाता है। अधिकांश मंत्रों में पाँच ही स्वरों का उपयोग होता है।

ऋचाओं का सामगान में परिवर्तन करने के लिए – (१) विकार (२) विश्लेषण (३) विकर्षण (४) अभ्यास (५) विराम और (६) स्तोभ – इन छह उपायों का आश्रय लिया जाता है। स्वरमण्डल में इन छह उपायों के साथ सामगान होता है। सामगान के विविध प्रकार मधुच्छदस्, वामदेव इत्यादि जिन ऋषियों ने निर्माण किये उन्हीं के नाम से वे गान प्रसिद्ध हैं।

हस्तवीणा – जिन सामवेदीयों में गेय स्वरों के उच्चारण की शक्ति नहीं थी, उन्होंने स्वर-निर्देशन के लिये 'हस्तवीणा' की पद्धति आरम्भ की। हाथों की पहली, दूसरी आदि अंगुलियों द्वारा षड्ज, ऋषभ, गंधार इत्यादि स्वरों का निर्देश करने की पद्धति नारदीय शिक्षा में बतायी है। आज सामगायकों की संख्या अत्यल्प है। वे 'हस्तवीणा' द्वारा स्वरों का निर्देश करते हैं।

सामवेदी परम्परा

भगवान वेदव्यास ने जैमिनि को सामवेद की संहिता प्रदान की। महाभारत के अनुसार यही जैमिनि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में और जनमेजय के सर्पसत्र में उपस्थित थे। जैमिनि द्वारा सुमन्तु, सुत्वा, सुकर्मा इत्यादि शिष्य-परम्परा प्रवर्तित हुई। सुकर्मा ने सहस्त्र संहिताओं का विस्तार कर शिष्य-परम्परा बढ़ाई, परन्तु वे सारे शिष्य विद्युतपात् अथवा भूचाल स्वरूप इन्द्र के प्रकोप के कारण नष्ट हुए और उनके साथ सामवेद की सहस्त्र शाखाओं का विलय हुआ। आगे चलकर सुकर्मा के पोषिंजी, हिरण्यनाभ तथा कौसल्य नामक शिष्यों ने कुछ संहिताओं का प्रवचन किया। उनमें से आसुरायणीया, वासुरायणीया, वार्तातरेया, प्रांजल, ऋग्वेन-विधा, प्राचीन-योग्या और राणायनीय नामक सात शाखाएँ अवशिष्ट रहीं। राणायनीय शाखा के शाख्यायनीय सात्यमुद्गल, खल्वल, महाखल्वल, लांगल, कौथुम, गौतम और जैमिनीय नामक नौ भेद हैं। आज सामवेद की शाखाओं में जैमिनी कर्नाटक में, कौथुमी गुजरात में और राणायनी महाराष्ट्र में विद्यमान है। ❖
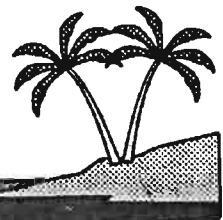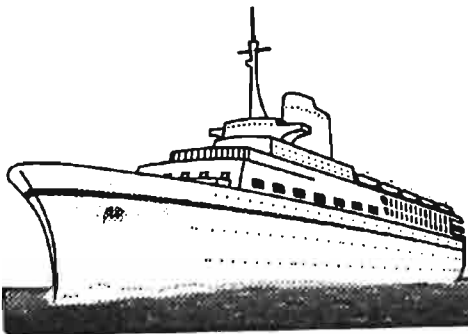
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

लक्सा रोड, वाराणसी २२१०१०

शताब्दी समारोह के लिए अपील

'नर की सेवा ही नारायण की पूजा है' — स्वामी विवेकानन्द के इस महामंत्र ने इस प्राचीन शाश्वत पुनीत नगरी के कुछ युवकों को अनुप्राणित किया। इसके फलस्वरूप रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम का श्रीगणेश हुआ, जो १५ सितम्बर २००० ई. में अपनी उपयोगी सेवा के सक्रिय सौ वर्ष पूरा करने जा रहा है। धूलभरी गली में पड़ी एक रुग्ण अनाथ बूढ़ी विधवा की सेवा हेतु भिक्षा में प्राप्त २५ पैसों से साधारण रूप में आरम्भ होकर इस सस्था ने समाज के चिर-वर्धमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कमर कस लिया है।

सेवाश्रम वर्तमान में निम्नलिखित सेवाएँ चला रहा है —

१. एक अस्पताल, जिसमें २३० बिस्तर, ३ शल्योपचार कक्ष, १ रोग-निदान केन्द्र तथा एक बाह्य रोगी विभाग, जिसमें प्रतिदिन औसतन ७०० रोगियों की सेवा होती है।

२. पुरुषों तथा महिलाओं के लिए अलग अलग वृद्धाश्रम।

३. अभावग्रस्त महिलाओं के लिए मासिक आर्थिक सहायता। (वर्तमान में २१० महिलाओं को प्रतिमाह रु. १५०/- की सहायता दी जाती है)।

४. निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता (वर्तमान में ४० छात्रों को मासिक सहायता दी जाती है)।

५. राजयक्ष्मा से ग्रस्त रोगियों को दीर्घकाल तक विशेष औषधियाँ प्रदान करना। (वर्तमान में लगभग ८० रोगियों को प्रतिमाह प्रायः रु. ५००/- की दवाइयाँ दी जाती हैं।

६. एक ग्रामीण चल-चिकित्सा केन्द्र।

सेवाश्रम के शताब्दी वर्ष को चिरस्थायी बनाने के लिए हमने कुछ कार्यक्रम तथा विकास-सम्बन्धी योजनाएँ बनायी हैं। इस क्रियान्वित करने के लिए काफी धन की आवश्यकता होगी। हम सच्चे हृदय से उन भक्तों, शुभ चिन्तकों तथा दानदाताओं के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनके उदारतापूर्ण सहयोग से हम मानवता की और भी कुशलतापूर्वक सेवा कर सकेंगे। यहाँ हम एक बार फिर आप सबसे इन कार्यक्रमों तथा विकासोन्मुखी योजनाओं को सफल बनाने के लिए सहयोग करने का हार्दिक अनुरोध करते हैं।

हमारे कार्यक्रम/योजनाएँ निम्मलिखित हैं —

(क) जनसख्या तथा रोगियों की सख्या में वृद्धि को देखते हुए लोगों की चिर वर्धमान माँगों की पूर्ति के लिए सेवाश्रम की अन्तःसंरचना के मूलभूत विकास हेतु हमने आगामी सौ वर्षों के लिए एक सर्वांगीण योजना बनाई है। इसका आंशिक क्रियान्वन करना हमारी तात्कालिक आवश्यकता है —

१. बाह्य रोगी विभाग तथा मुख्य कार्यालय	रु. १ करोड़
२. नर्सिंग स्कूल के लिए स्कूल तथा छात्रावास भवन	रु. ५० लाख
(ख) स्मारिका का प्रकाशन	रु. २ लाख
(ग) शताब्दी समारोह हेतु	रु. ५ लाख

हमारा विश्वास है कि श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द की कृपा तथा इस सत्कार्य में आपके दानरूपी उदारपूर्ण सहयोग से हमारा कार्य काफी सुगम हो जायेगा।

इस संस्था को दिये हुए दान भारतीय आयकर अधिनियम की धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। भेजी जानेवाली दान की राशि का एकाउण्ट पेयी क्रास्ड चेक या डिमाण्ड ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन होम ऑफ सर्विस' के नाम से बनवाकर — सचिव, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, लक्सा रोड, वाराणसी — २२१०१० के पते पर भेजी जा सकती है।

स्वामी शुद्धव्रतानन्द

सचिव